कुम्हार, धोबी, बुनकर, मोची

हमारे समय में श्रम की गरिमा



कांचा आइलैया

चित्रांकनः दुर्गाबाई व्याम



एकलव्य का प्रकाशन

कुम्हार, धोबी, बुनकर, मोची

हमारे समय में श्रम की गरिमा

कांचा आइलैया

चित्रः दुर्गाबाई व्याम

अँग्रेज़ी से अनुवादः भरत त्रिपाठी



एकलव्य का प्रकाशन

कुम्हारा, धोबी, बुनकर, मोची
हमारे समय में श्रम की गरिमा

KUMHAR, DHOBI, BUNKAR, MOCHI
HAMARE SAMAY MEIN SHRAM KI GARIMA

लेखक : कांचा आइलैया
चित्र : दुर्गाबाई व्याम
अँग्रेज़ी से अनुवादः भरत त्रिपाठी
कवर डिज़ाइनः इन्दु नायर

मार्च 2009/3000 प्रतियाँ
कागज़ः 80 gsm नेचुरल शेड व 220 gsm आर्ट कार्ड (कवर) पर प्रकाशित
पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से विकसित
मूल अँग्रेज़ी में 2007 में नवयाना पब्लिशिंग, पुडुचेरी द्वारा प्रकाशित, सम्पर्कः www.navayana.org
ISBN: 978-81-89976-47-7
मूल्यः 80.00 रुपए

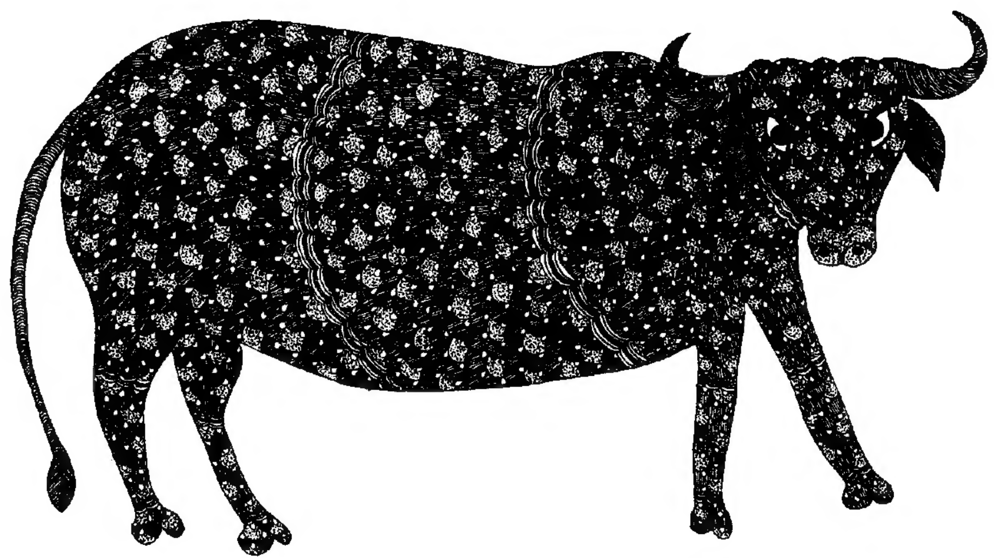
प्रकाशकः **एकलव्य**
ई-10, बीडीए कॉलोनी शंकर नगर,
शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 म.प्र.
फोनः (0755) 255 0976, 267 1017 फैक्सः (0755) 255 1108
www.eklavya.in
सम्पादकीयः books@eklavya.in
किताबें मँगवाने के लिएः pitara@eklavya.in

मुद्रकः बॉक्स कॉरूगेटर्स एण्ड ऑफसेट प्रिंटर्स, भोपाल, फोन. 0755–2587551

भारत और विश्व के उन सभी बच्चों के नाम

जो पढ़ाई-लिखाई से वंचित रहकर आहार और अन्य वस्तुएँ

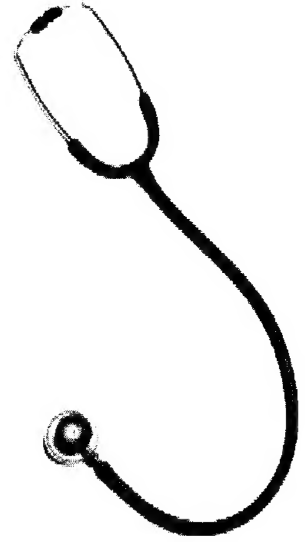
पैदा करने के लिए श्रम करते हैं



विषय-सूची



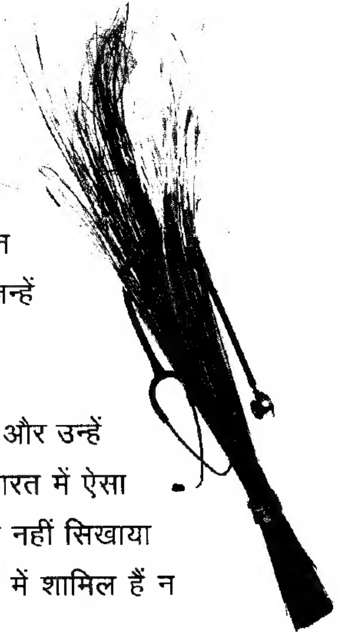
हमारे समय में श्रम की गरिमा



मार्च 2006 में जब केन्द्र सरकार ने केन्द्रीय शिक्षण संस्थानों में "अन्य पिछड़े वर्ग" के नाम से वर्गीकृत समुदायों के लिए 27 फीसदी आरक्षण की घोषणा की, तब सुविधा-सम्पन्न जातियों के लोगों और मीडिया ने इस तरह प्रतिक्रिया की जैसे कि पिछड़े वर्गों के लोग बुनियादी रूप से मूर्ख हों जो "उनके अपने युवाओं" के साथ चिकित्सक, इंजीनियर और प्रबन्धक बनने की कोशिश कर रहे हों। आरक्षण-विरोधी इस खलबली के एक खास पहलू ने मुझे बहुत धक्का पहुँचाया, जिससे सारे राष्ट्र को भी धक्का लगना चाहिए था।

सुविधा-सम्पन्न जातियों के उन विद्यार्थियों ने रैलियाँ आयोजित कीं और धरने दिए जो केन्द्रीय संस्थानों में चिकित्सा, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों में इंजीनियरिंग और भारतीय प्रबन्धन संस्थानों में प्रबन्धन पाठ्यक्रमों की पढ़ाई कर रहे थे। यह अपने आप में कोई समस्या नहीं थी। अटपटी और विचलित करने वाली बात यह थी कि उन्होंने विरोध के रूप में सड़कों पर झाड़ू लगाना, जूते पॉलिश करना और सब्ज़ियाँ बेचना शुरू कर दिया। उन्होंने इस वैश्वीकृत युग में ऐसा किया। पर निश्चित ही उन्होंने न तो जूते *बनाए,* न सड़कों पर बैठकर बरतन *बनाए,* और न ही झाड़ूएँ *बनाईं*। वे जूते, बरतन या झाड़ू बनाने में असमर्थ हैं। न ही उन्होंने उन पशुओं की लाशें हटाईं जो उस दौरान दिल्ली में मरे होंगे। चूँकि दिल्ली में बहुत संख्या में गायें, भैंसें, बकरियाँ और सुअर हैं, अतः निश्चित ही उनमें से कुछ इस आरक्षण-विरोधी आन्दोलन के दौरान मरे होंगे। विरोध करने वाले छात्र इन लाशों को भी हटा सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इन सांकेतिक विरोध प्रदर्शनों ने दिल्ली की सीमा से सटे हरियाणा और उत्तर प्रदेश के खेतों में भूमि की जुताई का रूप भी नहीं लिया। यदि आन्दोलनकारी छात्रों ने वास्तव में इन कामों को अंजाम देने की कोशिश की होती तो वे निश्चित ही उसमें असफल होते। उनमें से एक भी छात्र हल नहीं चला पाता। विज्ञान के ऐसे रूप के साथ उनका कभी कोई नाता नहीं रहा है।

स्वाँग की तरह सड़कों पर झाड़ू लगाने, जूते पॉलिश करने और सब्ज़ियाँ बेचने जैसे सांकेतिक कामों का आश्रय लेकर छात्र इस तथ्य को प्रदर्शित कर रहे थे कि वे श्रम को गरिमापूर्ण नहीं मानते। इस सबसे केवल उनका यह भय झलका कि किसी दिन उन्हें सड़कों पर झाड़ू लगानी पड़ेगी, जूते चमकाने पड़ेंगे, बरतन बनाने पड़ेंगे और पशुओं को चराना पड़ेगा। उन्हें जबरन ऐसे काम करने पड़ेंगे जिन्हें वे गहरी हिकारत से देखते हैं।



विरोध का ऐसा तरीका, जिसमें बुनियादी उत्पादक कामों का तिरस्कार किया जाए और उन्हें तुच्छ समझा जाए, किसी सचमुच के प्रजातांत्रिक समाज में नहीं दिखाई देगा। भारत में ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हमारे बच्चों को कभी भी श्रम को सम्मान के साथ देखना नहीं सिखाया गया। श्रम की गरिमा के मुद्दे से सरोकार रखने वाली किताबें न तो पाठ्यक्रमों में शामिल हैं न ही उनके बाहर उपलब्ध हैं।

हमारे समाज में श्रम के प्रति सम्मान की भावना का अभाव है क्योंकि जाति व्यवस्था के ढाँचे में श्रमाधारित किसी भी गतिविधि को हेय मान लिया जाता है। यह भारतीय शिक्षा व्यवस्था में भी झलकता है। जैसा कि डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने कहा था, जाति व्यवस्था श्रम का बँटवारा ही नहीं है, बल्कि श्रमिकों का भी बँटवारा है। जातियों के ऊँच-नीच के क्रम में शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा दिखाई देती है। दुर्भाग्यवश, यह सोच आधुनिक स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम को भी निर्धारित करती चली जा रही है।

जैसे-जैसे भारतीय बच्चे उच्चतर शिक्षा की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे उनमें बुनियादी श्रमाधारित उत्पादन प्रक्रियाओं के प्रति अरुचि भी बढ़ती जाती है। स्कूल जाने वाले हर बच्चे का रोज़मर्रा के घरेलू कामों (घर का झाड़ू-पोंछा, बरतन साफ करना, कचरा ठिकाने लगाना और कपड़े धोना) के प्रति नकारात्मक रवैया होता है। ऐसा माना जाता है कि यह सब माँ का काम है; या, यदि परिवार समर्थ है तो घरेलू नौकर का, जो अधिकांशतः निचली जाति की स्त्री होती है। हमारे समाज में घरेलू काम करने वाली किसी स्त्री का दर्जा भी वही होता

है जो "नीची जाति" के मज़दूर (कुम्हार, नाई, चर्मकार या किसान) का होता है। ऐसा काम न तो गरिमा देता है न ही उचित वेतन। इस प्रकार, श्रम के प्रति अनादर की भावना जाति आधारित भी है और लिंग आधारित भी। ऐसे विचार घर और स्कूलों में हमारे मानस में बिठाए जाने के साथ-साथ शताब्दियों से उत्तराधिकार में मिले सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों के माध्यम से भी मज़बूत होते हैं।

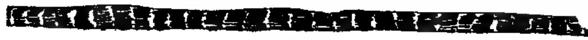
यदि हमें इस स्थिति को सुधारना है तो श्रम के प्रति आदर की भावना जगाने के लिए स्कूली पाठ्यक्रम में और घर पर ध्यान देना होगा। पहला कदम है ऐसी पाठ्य सामग्री विकसित करना जिसे किशोर छात्र (सातवीं से दसवीं कक्षा), शिक्षक और माता-पिता प्रयोग कर सकें। यह किताब ऐसा ही एक प्रयास है। इस किताब में भारत के उत्पादक समुदायों द्वारा विकसित बुनियादी विज्ञान के ऐतिहासिक विकास और श्रम की गरिमा के सम्बन्ध की चर्चा की गई है। इन समुदायों को जातियों का रूप दे दिया गया था और उनके श्रम को हेय और अशोभनीय माना जाने लगा था।

इस किताब के ग्यारह में से आठ अध्यायों में आदिवासियों, पशु-पालकों, चर्मकारों, कुम्हारों, किसानों, बुनकरों, धोबियों और नाइयों के विज्ञान, उनकी कलाओं और उनके हुनर की चर्चा है। प्रत्येक विज्ञान के विकास की ऐतिहासिक रूप से पड़ताल की गई है और उन्हें व्यापक सन्दर्भ में रखा गया है। तीन अध्याय जीवन, लिंग और धर्म के सन्दर्भ में श्रम की गरिमा के सामान्य सिद्धान्त का खाका खींचते हैं। मैं आशा करता हूँ कि यह किताब लोगों के मन में श्रम के प्रति आदर का भाव जगाने और एक विवेकशील, वैज्ञानिक तथा प्रजातांत्रिक भारत बनाने में सहायक होगी।

कांचा आइलैया
हैदराबाद


दुर्गाबाई

1 आदिवासी



हमारे पहले शिक्षक, जिन्होंने उन कन्द-मूल, फलों और
मांसों की पहचान की जिन्हें हम आज खाते हैं

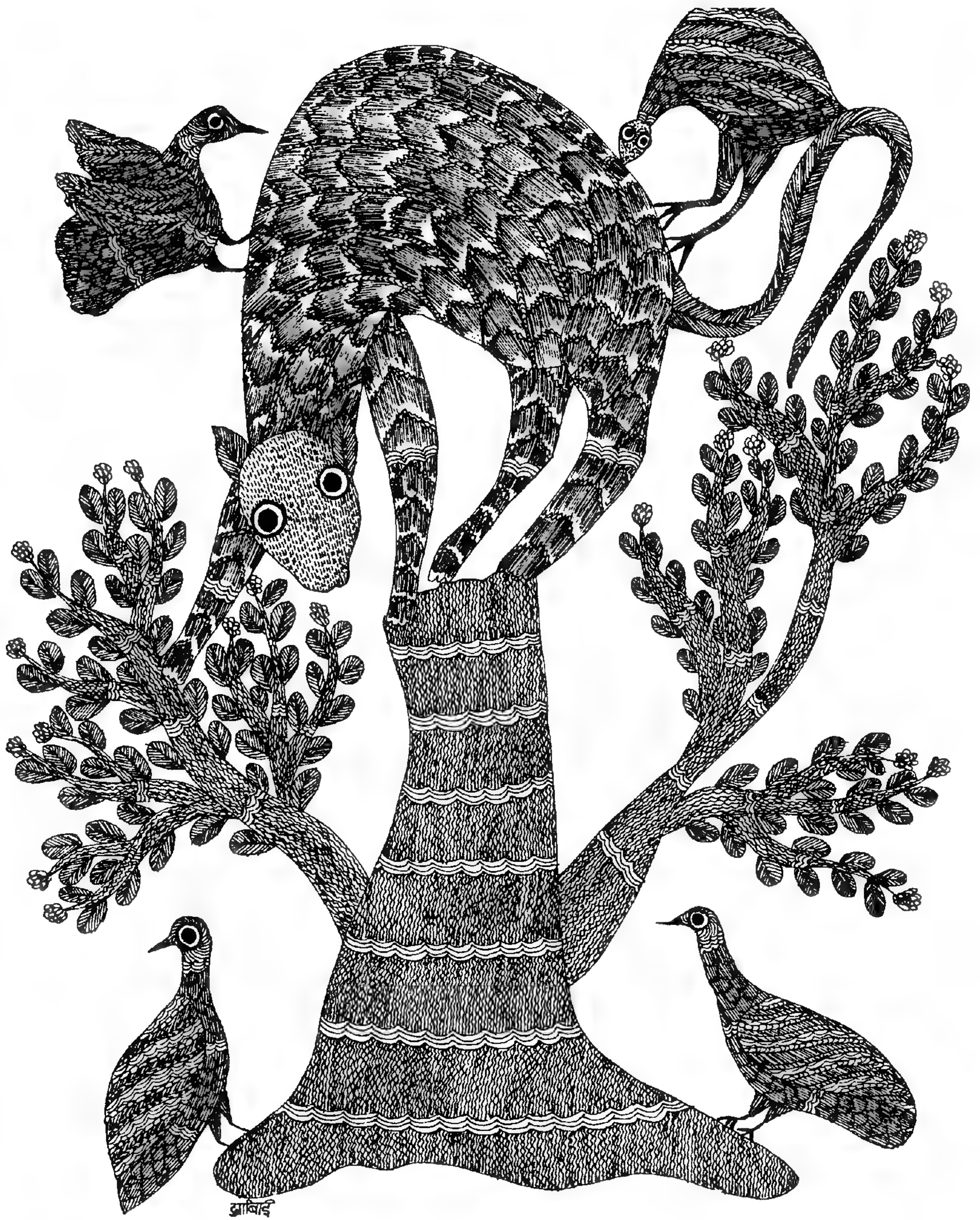




भारत ने अपनी खाद्य संस्कृति कैसे विकसित की? हज़ारों सालों से विभिन्न तरह के कन्द-मूल, वनस्पतियाँ, फल और मांस खाने की आदत ने मनुष्य को जीवित रखा है। उन खाद्य पदार्थों का चलन किसने शुरू किया जिन्हें हम आज भी खाते आ रहे हैं? किसने पता लगाया कि क्या खाने योग्य है और क्या ज़हरीला? आज हमारे द्वारा उपभोग किए जाने वाले अधिकांश खाद्य पदार्थों को आदिवासियों ने ही खोजा, चुना और उनके मानक स्थापित किए। आदिवासी इस भूमि पर निवास करने वाले सबसे पहले लोग हैं। पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में फैले ये लोग शुरू से ही मैदानों से दूर, ज़्यादातर पहाड़ियों, जंगलों और शुष्क पठारी क्षेत्रों में रहते रहे हैं। अँग्रेज़ों ने उन पर "कबीलाई" होने का गलत ठप्पा लगाया और मैदानों में रहने वाले कुछ लोगों ने भूलस्वरूप उन्हें "वनवासी" और "गिरिजन" कहा।

आदिवासी समुदायों द्वारा खाए जाने वाले ऐसे कई फल हैं जो हम शायद ही कभी अपने जीवन में खाएँगे। उदाहरण के लिए, आन्ध्र प्रदेश में गोंड और कोया जैसे आदिवासी समुदाय *तुनिकि* नामक फल और *एल्लेरु* नामक कन्द का इस्तेमाल बारहमासी खाद्य साधन के रूप में करते हैं। पर मैदानों में रहने वाले कई लोग इन कन्दों से अपरिचित हैं।

आदिवासियों ने अधिकांश बुनियादी खाद्य पदार्थों से मैदानी लोगों को अवगत कराया। दही भात या पिज़्ज़ा नहीं, बल्कि अनानास, कटहल, आम, खरबूज़े, सीताफल, विभिन्न प्रकार के केले और बीसियों तरह के अन्य फल आदिवासियों द्वारा खोजे गए। जंगली नींबुओं के खट्टेपन का पता भी उन्होंने ही लगाया और इन्हें खाने के साथ इस्तेमाल किया। वे औषधीय गुणों से युक्त जंगली शहद को इकट्ठा करने वाले पहले लोग थे। आज हम जिन सब्ज़ियों, फलों और फूलों की खेती करते हैं, उनमें से अधिकांश को इस्तेमाल करना आदिवासियों ने ही शुरू किया था। इसलिए वे हमारे पहले शिक्षक हैं। जंगलों से, जिन्हें कई आदिवासी समुदाय पवित्र उपवनों की तरह पूजते हैं, अपने जुड़ाव के चलते उन्होंने सीखा कि खाने योग्य कन्द-मूल कैसे खोदे जाते हैं। उन्होंने कुछ कन्द-मूल कच्चे, कुछ सेंककर और कुछ उबालकर खाए। सब कन्द-मूलों का स्वाद एक सा नहीं होता। उनका पौष्टिक महत्व भी एक-सा नहीं होता। कुछ मामलों में ऐसा हो सकता है कि फल पौष्टिक हो पर उसकी पत्तियाँ नहीं। उदाहरण के लिए, टमाटर खाने की चीज़ है पर उसके पौधे की पत्तियाँ





विषाक्त होती हैं। इसी प्रकार, ऐसे फूल हैं जो खाए जा सकते हैं और उनमें रोगनाशक गुण होते हैं। हज़ारों सालों की आज़माइश द्वारा आदिवासियों ने उपयोगी खाद्य पदार्थों को अपनाया और नुकसानदायक पदार्थों को अलग किया। अतः हमारी खाद्य संस्कृति में स्वाद का आयाम जोड़ने का श्रेय उन्हें जाता है।

जो मांस हम खाते हैं

अधिकांश भारतीय मांसाहारी हैं; कुछ ही वर्ग शाकाहारी हैं। नई दिल्ली स्थित *सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डिवेलपिंग सोसायटीज़* द्वारा अगस्त 2006 में कराए गए एक अखिल भारतीय सर्वे के अनुसार 60 प्रतिशत भारतीय मांस खाते हैं। मांस पूरे विश्व में सबसे अधिक पसन्द किया जाने वाला भोजन है। भोजन के लिए जानवरों का शिकार करना आदिम मानव की ज़रूरत थी। आज के आदिवासियों के पूर्वजों को यह तय करना पड़ा कि मनुष्यों के खाने के लिए किस जानवर का मांस उपयुक्त था और किसका नहीं। इस चयन को ऐसे पशु-पक्षियों तक सीमित करके जिनका मांस स्वादिष्ट होता है, उन्होंने हमारी मांस सम्बन्धी भोजन-संस्कृति को विकसित किया। आज दुनिया भर में मनुष्यों द्वारा खाए जाने वाले सूअर, मुर्गे (जिससे चिकन बनता है), मछली और मवेशियों के मांसों को सर्वप्रथम आदिवासियों ने ही खोजा था। आदिवासी अभी भी हमारी मांसाहारी व्यंजन सूची में इज़ाफा करते जा रहे हैं।

सही समय पर कन्द-मूल खोदकर निकालना, फल तोड़कर जमा करना तथा मांस देने वाले जानवरों का शिकार करना आहार इकट्ठा करने की स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं। मानव जाति के जीवित रह पाने का प्रमुख कारण है कि हमने सहस्राब्दियों से सही प्रकार के खाद्य पदार्थ खाए हैं। आज जो कन्द-मूल हम खाते हैं, उन्हें ज़मीन से खोदना पड़ता है; जो फल हम खाते हैं, उन्हें पेड़ों से तोड़ना पड़ता है; जो मांस हम खाते हैं, वह पशु-पक्षियों से मिलता है। यदि आदिवासियों ने ये कठिन काम न किए होते तो मनुष्य जाति जीवित न रह पाती।

ऐसे भी लोग हैं जो आदिवासियों को अशिष्ट, असभ्य, कबीलाई मानकर उनकी निन्दा करते हैं। यह उन साथी मनुष्यों के साथ बर्ताव करने का बहुत अमानवीय तरीका है जिन्होंने

हमें हमारी बुनियादी खाद्य संस्कृति दी। जहाँ कुछ आदिवासियों ने आधुनिक तालीम हासिल करके अपने को आज की ज़िन्दगी के अनुकूल बना लिया है, ज़्यादातर आदिवासी अभी भी जंगलों और पहाड़ों पर रहते हैं।

हमारी बुनियादी खाद्य संस्कृति विकसित करने की खातिर अपने जीवन और अंगों को खतरे में डालकर पाए ज्ञान को आदिवासियों ने दूसरों के साथ बाँटा। इस ज्ञान को उन्होंने मौखिक रूप से भी गीतों और कहानियों द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाया। आयुर्वेद और सिद्ध चिकित्सा पद्धतियों में उपयोग किए जाने वाले कई औषधीय पौधे मूलतः आदिवासियों द्वारा पहचाने गए थे। आज व्यापारिक तौर पर निर्मित की जा रही गोंदों, लीसा और रंगों को भी सर्वप्रथम आदिवासियों ने ही खोजा था। हमें आदिवासियों का न केवल सम्मान करना चाहिए बल्कि उनसे बहुत कुछ सीखना भी चाहिए। समाज पर उनका ऐतिहासिक ऋण है और शिक्षा तथा आधुनिक रोज़गारों में उन्हें तरजीह मिलनी चाहिए। 



आधिकारिक तौर पर भारत में आदिवासियों के 624 समुदाय हैं। वे भारत की आबादी का 8 प्रतिशत हिस्सा हैं। कुछ खास आदिवासी समुदाय हैं – भील, कोया, गोंड, ओरांव, मुण्डा, हो, संथाल, कोरकू, टोडा, जरावा और इरुलर। जो किताब आप पढ़ रहे हैं, इसके चित्र एक गोंड कलाकार द्वारा बनाए गए हैं। आदिवासी अपने नायकों, जैसे बिरसा मुण्डा, खाज़्या नाइक, कोमुराम भीम और टंट्या भील को अपने गीतों और किंवदन्तियों में याद करते हैं, पर स्कूली पाठ्य पुस्तकों में उन्हें भुला दिया गया है।



क्या आप जानते हैं?

आदिवासी पौधों की करीब 10,000 प्रजातियों का उपयोग करते हैं – लगभग 8000 प्रजातियाँ औषधियों की तरह; 325 कीटनाशकों की तरह; 425 गोंद, लीसा और रंगाई की सामग्री की तरह; 550 रेशों की तरह इस्तेमाल होती हैं; 3,500 प्रजातियाँ खाने योग्य हैं।

"वह [गुजरात का एक आदिवासी] **मेरे लिए उन फलों की सूची बना रहा था जिन्हें वह जंगल से इकट्ठा किया करता था। उसने 48 प्रकार गिनाए। उसने मुझसे कहा कि उसे भरोसा नहीं था कि वह या उसके बच्चे फिर कभी कोई फल खा पाएँगे।"**

अरुंधती रॉय, अपने आलेख "द ग्रेटर कॉमन गुड" (1999) में सरदार सरोवर परियोजना के कारण विस्थापित हुए नर्मदा घाटी के एक आदिवासी के बारे में।



वे फल जो हमारी जीभ लाल-सुर्ख कर देते थे

सी. के. जानु

बचपन में हम सभी बच्चे कभी खेतों की मेड़ों पर *चप्पा* तोड़ने जाते, कभी छोटी-सी नदी पर जाकर मछली पकड़ते, या फिर खेतों के दलदल में छिपे केंकड़ों को लुभाकर बाहर निकालते, कभी *जेन्मी* (ज़मींदार) के मवेशी चराते। या ऐसे ही निरुद्देश्य जंगल में घूमते रहते। और कभी हम जंगली फल, जैसे *कारप्पयम, मोत्तंगायप्पयम* या *कंजिप्पयम* तोड़ने जाते थे। *कंजिप्पयम* भरपूर मिलता था और उसे खाने पर हमारी जीभें लाल-सुर्ख हो जातीं। कभी हम ऊँचे वृक्षों पर शहद खोजते, या सरकण्डे इकट्ठा करके उनके गट्ठर बनाते। बाँस के जंगलों में हम हाथियों के पाँवों के निशान तलाशते। कहीं जलकुण्डों से खूब पानी पीते, या ठण्डे पानी में अपने पैर डालकर विश्राम करते, और कहीं चट्टानों की दरारें खोदकर पानी तलाशते। कभी हम गन्ने के टुकड़े घर ले आते। जंगल में कभी किसी ने नहीं जाना कि भूख क्या होती है। हम जंगली कन्द-मूल खोदकर खाते। जब हम एक बार जड़ों के लिए खोदना शुरू करते तो उन्हें पाने तक खोदते रहते। कभी-कभी इसमें पूरा दिन भी लग जाता था।

अडियर समुदाय में जन्मी जानु, वयनाड, केरल की एक आदिवासी नेत्री हैं

जानिए और करिए!

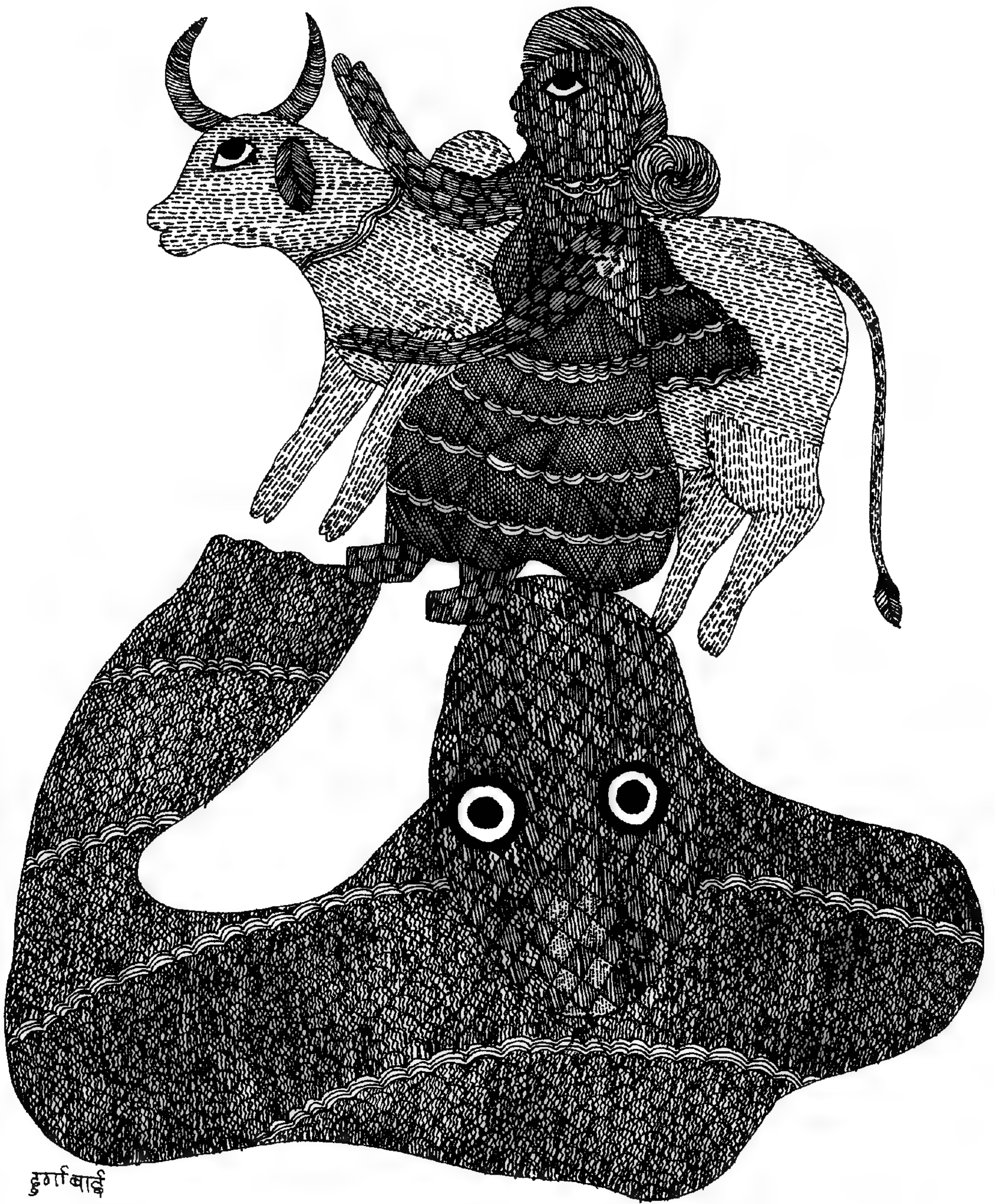


बिरसा मुण्डा कौन थे? आज के झारखण्ड राज्य के बम्बा गाँव में सन् 1872 में जन्मे बिरसा ने मुण्डा राज स्थापित करने के लिए अँग्रेज़ों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्षों का नेतृत्व किया। बिरसा और उनके अनुयायियों ने 24 दिसम्बर 1899 को *उलगुलान* (विद्रोह) कर दिया। सम्भवतः ब्रिटिश जेल अधिकारियों द्वारा विष दिए जाने की वजह से सन् 1900 में बिरसा की मृत्यु हो गई। बिरसा मुण्डा के बारे में और जानकारी हासिल करके एक पन्ने का निबन्ध लिखें।



केरल की आदिवासी नेत्री सी. के. जानु के बारे में आप क्या जानते हैं? जानु, उनके आन्दोलन, और केरल में चल रहे आदिवासी संघर्ष के बारे में पता करें।

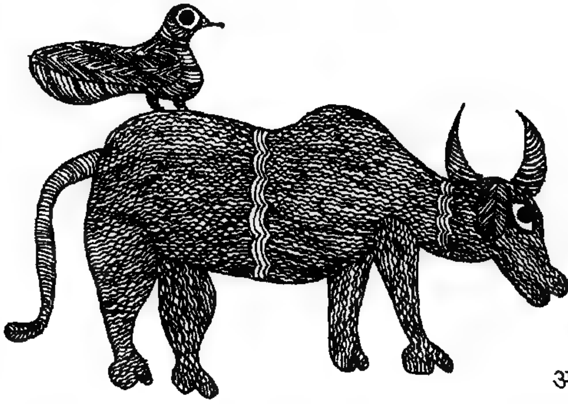
आप की पड़ोस की दुकान में मिलने वाले चिकन, गाँवों में मिलने वाले देसी चिकन, और वनों में पाए जाने वाले जंगली मुर्गे के बारे में जानकारी हासिल करें। पता करें कि वे एक-दूसरे से कैसे और क्यों भिन्न हैं।


दुर्गाबाई

2 पशु-पालक



जो मवेशियों का पालन-पोषण करते हैं ताकि हमें दूध, दही, मक्खन और घी मिल सके; जो मांस और दुग्ध उद्योग को चलाते हैं

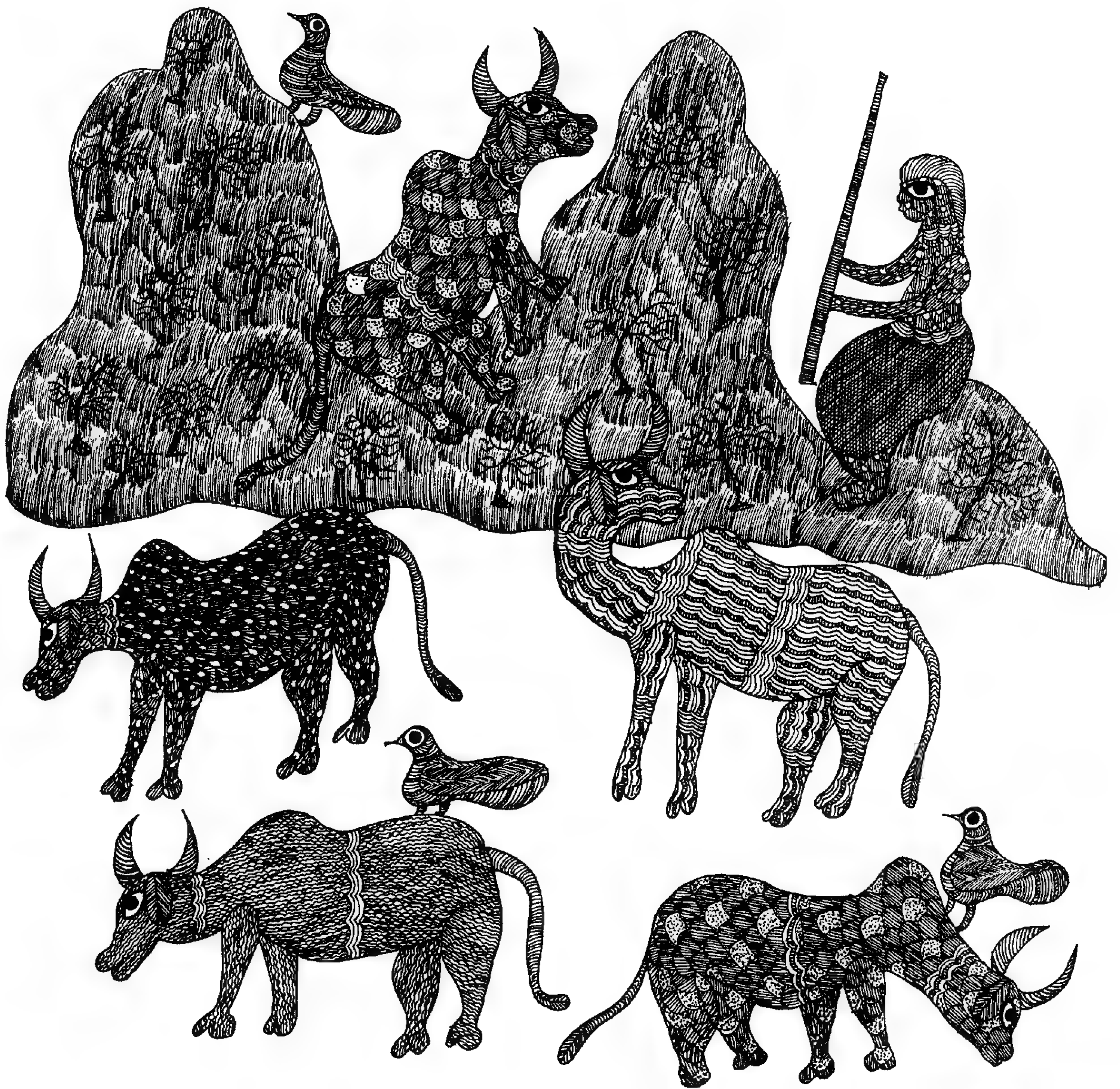


कृषि के विकास से पहले हमारी अर्थव्यवस्था पालतू बनाए गए पशुओं - गाय, बैल, भैंस, भेड़, सुअर और बकरियों - पर निर्भर थी। ये पशु हमारे भोजन का मुख्य साधन थे। भेड़, बकरी और अन्य मवेशियों की देखभाल करने वाले लोगों को आम तौर पर पशु-पालकों के नाम से जाना जाता है। कृषि-कार्यों के लिए जहाँ बैल अनिवार्य हैं, वहीं भैंस और गाय मूलतः दुधारू पशु हैं जिन्हें खेती के कामों में भी इस्तेमाल किया जाता है। भारत में कई समुदाय इन मवेशियों का मांस खाते हैं जिसे "गोमांस" कहा जाता है। (केरल में 72 प्रतिशत आबादी गोमांस का उपभोग करती है।) मवेशियों की खाल चमड़े का मुख्य स्रोत है। इनकी हड्डियों से कंघे और अन्य वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इनका गोबर खाद और ईंधन के स्रोत के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

भेड़ और बकरियाँ हमारे लिए मांस का प्रमुख स्रोत हैं। भेड़ ऊन भी देती है। भेड़-पालक अपनी खास कैंची से भेड़ की खाल को नुकसान पहुँचाए बिना उससे सावधानीपूर्वक ऊन कतरते हैं। ऊन से कम्बल और दूसरी वस्तुएँ बनाई जाती हैं। ऊनी कपड़े ठण्ड से लोगों की रक्षा करते हैं। भेड़, बकरियों और अन्य मवेशियों की देखभाल करने वाले समुदायों ने दूध, मांस तथा ऊन और उनसे बनी चीज़ों का विकास करके हमारी अर्थव्यवस्था को मदद पहुँचाई।

प्रेरक व्यक्तित्व की तरह गड़रिया

गड़रिए का पेशा उत्तम होता है। ईसाई धर्म में ईसा मसीह को गड़रिया कहा गया है। यदि आप गौर करें तो हो सकता है कि आप अधिकांश भारतीय शहरों में "गुड शेफर्ड" नामक कॉन्वेंट स्कूल पाएँ। इस्लाम के अनुसार, पैगम्बर मुहम्मद ने व्यापारी परिवार में जन्म लेने के बावजूद गड़रिए का काम किया। ऐसे कई समाज हैं जिनमें कोई गड़रिया प्रेरक व्यक्तित्व बना। यहाँ तक कि उसे भगवान की तरह माना गया। ऐसा इसलिए क्योंकि गड़रिए को अपने समूह की देखभाल करने वाले के रूप में देखा जाता है, ऐसा व्यक्ति जो अपने समूह को सही राह पर ले जाता है। गड़रिए, ग्वाले और बकरी पालने वाले जानवरों का उसी तरह ध्यान रखते हैं जैसे माँ-बाप अपने बच्चे की ज़रूरतों का ख्याल रखते हैं। प्रतिदिन पशु-पालक अपने मवेशियों को चराते हैं। वे यह सुनिश्चित करते हैं कि गर्भवती मादाओं को बेहतर पोषण मिले। प्रसव के समय पशु-पालक दाई का काम करता है और नवजात बछड़े की सफाई करता है।



पशु-पालक सही प्रकार की घास, पत्तियों और चारे की खोज में अपने पशुओं की मदद करते हैं। गाय, भैंस, भेड़ और बकरियों के बचाव के लिए वे छप्पर भी बनाते हैं। ये पशु-पालक ही पशु-पालन विज्ञान के जनक हैं।

पशु-पालन व्यवसाय में पशुओं के प्रजनन से लेकर उनके पालन-पोषण और दोहन की सभी गतिविधियाँ आती हैं। भारत के पशु-पालक समुदाय अपने झुण्ड के पशुओं को होने वाली बीमारियों का इलाज करना भी जानते थे। आधुनिक पशु-चिकित्सा विज्ञान के आने के काफी पहले चरवाहों ने जड़ी-बूटियों से औषधियाँ और अन्य देसी उपचार ढूँढ निकाले थे। पशुओं को चरते समय साँप द्वारा काट लिया जाना आम समस्या है। चरवाहे जड़ी-बूटियों द्वारा विष का इलाज करना जानते हैं। वे जानवरों की टूटी हड्डियों को ठीक करना भी जानते हैं। वे मवेशियों में होने वाले स्नायविक विकारों का उपचार करने के लिए उनके शरीर को सही बिन्दुओं पर गर्म लोहे से दागते हैं। चरवाहों को पता होता है कि पशुओं को चराते समय किन दलदलों से बचाना है और कौन-से मार्ग खतरनाक हैं।

किसी मानव समाज की संस्कृति उसके आस-पास रहने वाले जानवरों के साथ उसके सम्बन्धों से समृद्ध होती है। मानव संस्कृति केवल मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से ही नहीं बनती; उसके निर्माण में जानवर भी योगदान देते हैं। मनुष्य की कई वृत्तियाँ जानवरों की वृत्तियों से विकसित हुई हैं, जो जानवरों के साथ उनके सतत सम्बन्धों का नतीजा हैं। चरवाहा समुदाय इन सम्बन्धों की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।



क्या आप जानते हैं?

सन् 2006 में विश्व में कुल दुग्ध उत्पादन 650 मिलियन (65 करोड़) टन आकलित किया गया है। 2005-06 में कुल 96.1 मिलियन (9.61 करोड़) टन उत्पादन के साथ भारत विश्व में दुग्ध उत्पादन के मामले में पहले स्थान पर है। भारत विश्व की 53 प्रतिशत भैंसों का घर है।

अपनी देखरेख में रहने वाले जानवरों के प्रति जो प्यार और लगाव चरवाहों में होता है वह अनोखा है। इन पशुओं को पालना शहरों में स्थित कुछ "पशु अधिकार" संगठनों और कार्यकर्ताओं द्वारा शौकिया तौर पर किए जाने वाले कामों की तरह आसान नहीं है। "पशु अधिकारों" के शहरी समर्थक न तो बीमार पशुओं का इलाज करते हैं, न ही उन्हें हाथ लगाते हैं। पशु-पालक, जिनका जानवरों के साथ जीवन्त रिश्ता होता है, अपने पशुओं की दिन-प्रतिदिन की छोटी-छोटी समस्याओं पर ध्यान देते हैं। यह पालतू कुत्ता या बिल्ली रखने जैसा नहीं है। पशु-पालकों के लिए जानवरों की देखभाल करना ज़िन्दगी भर का काम है जिसमें हर प्रकार की कठिनाई शामिल होती है।

सामाजिक दर्जा

हमारा फलता-फूलता मांस और दुग्ध उद्योग पशु-पालकों की बदौलत ही है। फिर भी, जाति व्यवस्था की स्थापना के बाद पशु-पालन को तुच्छ और गन्दा पेशा माना जाने लगा। पशु-पालकों को भारत के अलग-अलग भागों में अलग-अलग जातीय नामों से जाना जाता हैः तेलुगु में गोल्ला और गोल्ल-कुरुमा, तमिल में कोनार, कन्नड़ में कुरुबा, और उत्तर भारत के व्यापक हिस्से में यादव। इन समुदायों के लोगों को इज़्ज़तदार नहीं माना गया। ऐसा रवैया जारी रहा है, हालाँकि मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कई राजवंश गड़रिया समुदाय के ही थे, जैसे होयशल और विजयनगर के शासक।

पौराणिक कथाओं में कृष्ण को यादव राजकुमार बताया गया है। कहानियों और किंवदन्तियों में वे बाँसुरी बजाते हुए पशुओं को चराने वाले भगवान की तरह आते हैं। फिर भी, पशुओं का पालन-पोषण करके हमारी अर्थव्यवस्था में योगदान देने वाले इन समुदायों के ज्ञान और कौशल को सम्मान नहीं दिया गया। जानवरों से सम्बन्ध होने के कारण उनका मज़ाक बनाया गया। आज भी पशु-पालक समुदाय से आने वाले लालू प्रसाद यादव जैसे राजनेता का भैंसों से सम्बन्ध होने के कारण मखौल उड़ाया जाता है। जबकि, यज्ञों में भाग लेने वाले और धार्मिक स्वामियों के पैरों पर गिरने वाले कई राजनेता उपहास का विषय नहीं बनते।

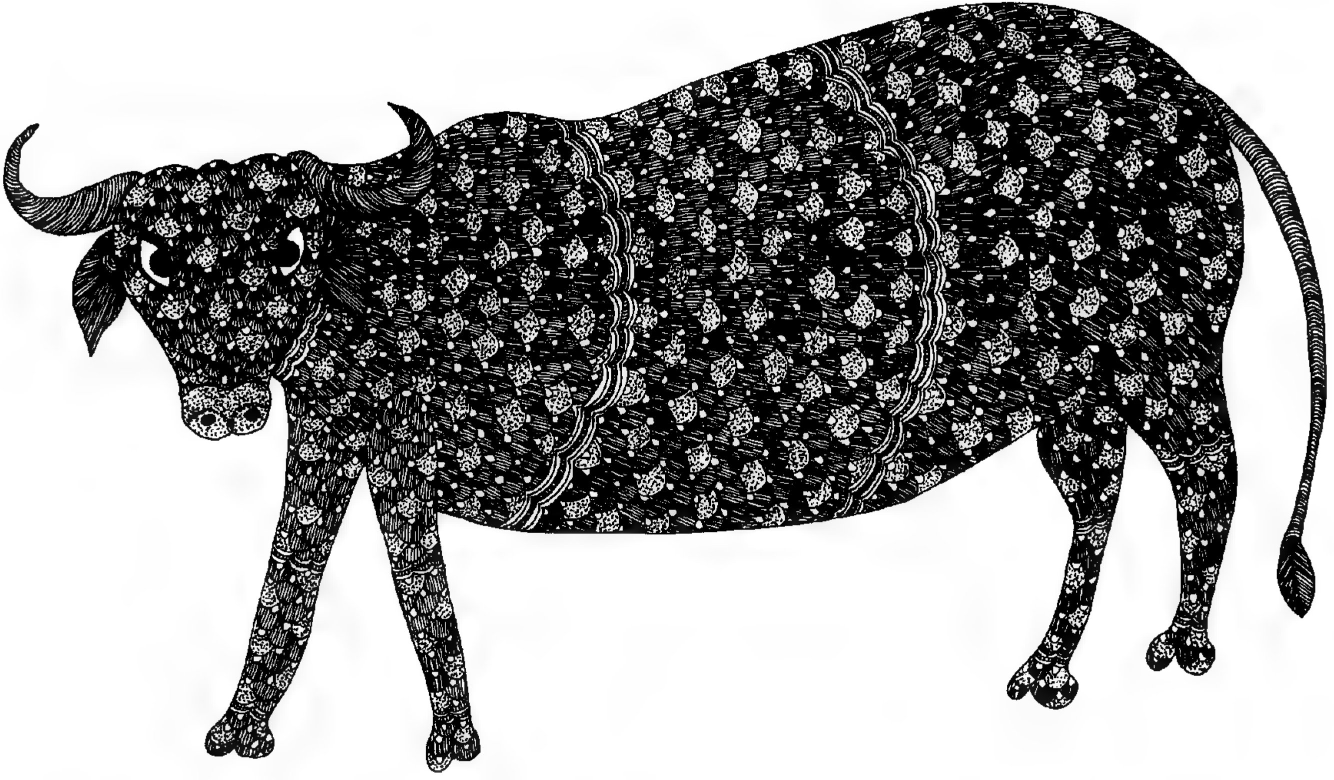
कई समुदायों में स्त्रियाँ घर के बाहर काम नहीं करतीं। पर गड़रिया समुदाय की स्त्रियाँ दुग्ध उद्योग में सक्रिय भाग लेती हैं। स्त्रियों ने ही दूध दोहने, उबालने, और दूध को दही, पनीर और खोवे में बदलने की कला को परिष्कृत किया। उन्हें ही पता लगा कि दही से मक्खन बन सकता है और मक्खन से घी। अतः बुनियादी दुग्ध

उद्योग की शुरुआत का श्रेय गड़रिया समुदाय की स्त्रियों को जाता है। उन्होंने विभिन्न ऊनी उत्पादों को विकसित करने में और पशुओं के उपचार में भी अहम भूमिका निभाई। पर कुछ ऐसे समुदाय भी रहे जिन्होंने दूध, दही, मक्खन और घी का उपभोग तो किया पर इन उत्पादों को बनाने वाले लोगों को काबिल नहीं माना। ऐसी सतत नकारात्मक सोच न केवल भारत में मांस और दुग्ध उद्योग की प्रगति में बाधक बनी बल्कि उसने आधुनिक संसार में गोल्ला, यादव, कुरुबा और कोनारों के विकास को भी अवरुद्ध किया है।

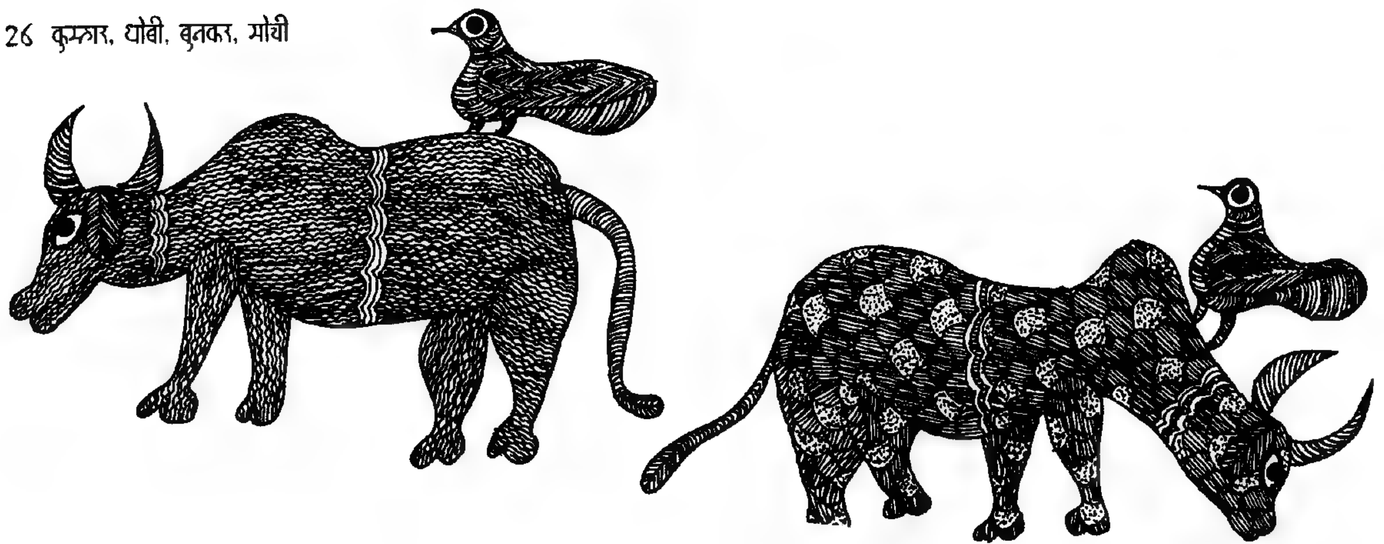
भारत में भैंस

भारतीय उपमहाद्वीप में पशु-पालकों ने भैंसों को 6000 ई.पू. में ही पालतू बना लिया था। यही नहीं, सिन्धु घाटी सभ्यता (3000 से 1700 ई.पू.) की मुहरों पर भी भैंसें दिखाई देती हैं। आज भैंसें दूध, दही, मक्खन, पनीर और घी का मुख्य स्रोत बन गई हैं। कुछ लोग तो गाय की पूजा भी करते हैं, पर वे भैंस की निन्दा करते हैं। इस बर्ताव के पीछे कोई वैज्ञानिक कारण नहीं है। वे भैंस की निन्दा इसलिए करते हैं क्योंकि वह काली होती है और पौराणिक कथाओं में उसे मृत्यु का वाहन बताया गया है। ऐसे अन्धविश्वासी रवैए को त्यागना ज़रूरी है। न तो कोई रंग पवित्र होता है और न ही पैशाचिक। आखिरकार, काली भैंस और भूरी या सफेद गाय, दोनों ही समान रंग का दूध देती हैं। रंग तो प्रकृति द्वारा निर्धारित होते हैं और सारे रंगों का अपना-अपना उपयोग है। पशु-पालक जितनी देखरेख और प्यार काली बकरियों और काली भैंसों को करते हैं, उतनी ही देखरेख और प्यार वे काली और सफेद भेड़ों को करते हैं। वे उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं, उनको चराते हैं और मानव उपयोग के लिए उनका दूध निकालते हैं। यदि आप भैंस की चमड़ी का नज़दीक से अवलोकन करें तो आप पाएँगे कि वह चिकनी और चमकदार होती है। जब लोग काले बालों को सुन्दर मानते हैं तो काली भैंस को क्यों नहीं?

जानवरों के अलग-अलग रंग और आकार होते हैं। हमें रंग के आधार पर जानवरों का अनादर नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार, लोगों का भी उनके काम और समग्र समाज की भलाई के लिए उनके योगदान के आधार पर ही आदर होना चाहिए।



भारत वैज्ञानिक रूप से पिछड़ा देश बना हुआ है क्योंकि अधिकांश भारतीय अन्धविश्वासों में यकीन रखते हैं। हमारे समाज ने मनुष्यों, रंगों, जानवरों आदि के चारों तरफ कई मिथक और अन्धविश्वास बना रखे हैं। पशु-पालक समुदायों ने जानवरों के साथ अपने रिश्तों में कभी ऐसी अन्धविश्वासी मान्यताओं को आड़े नहीं आने दिया। हम इन पशु-पालकों से बहुत कुछ सीख सकते हैं। 

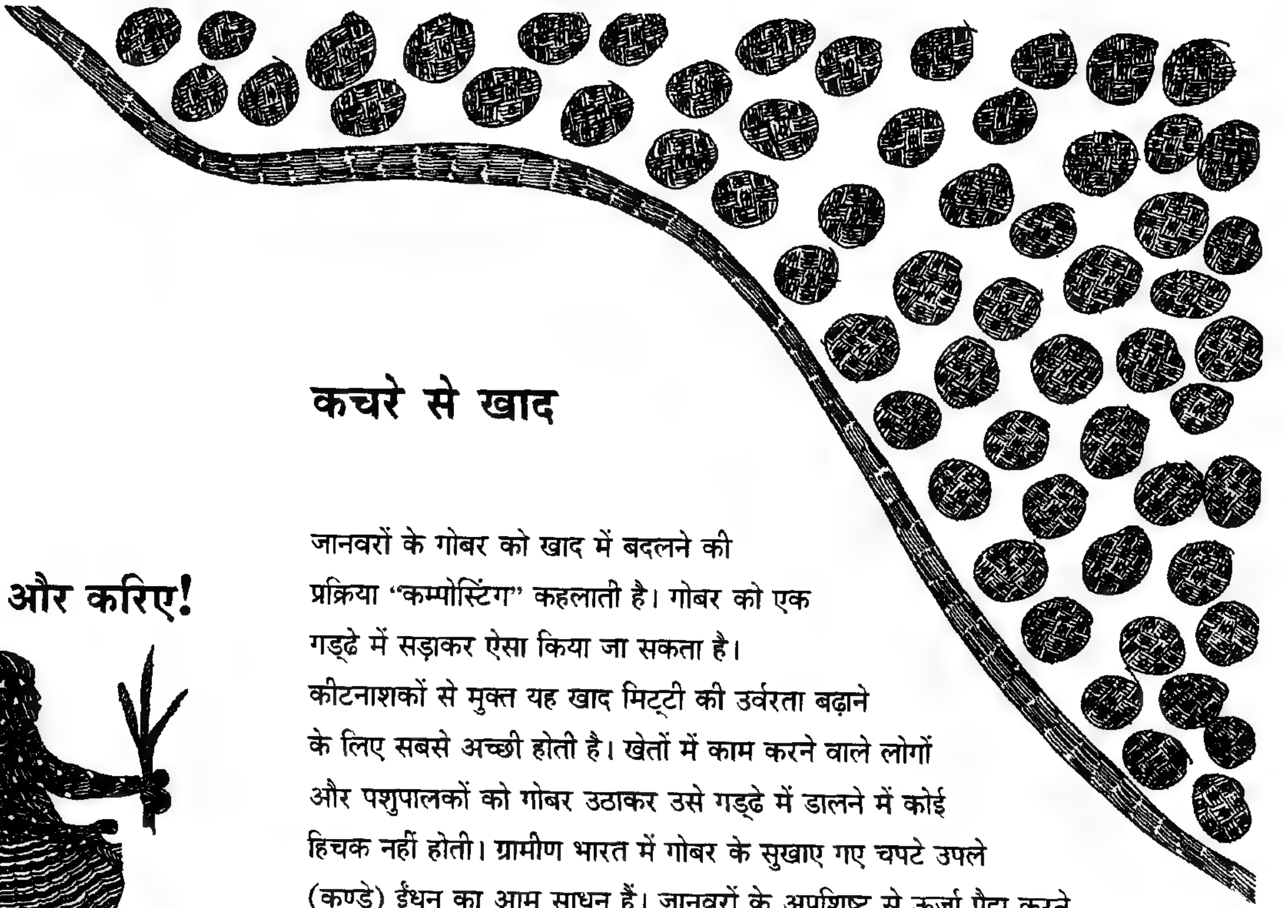


भैंस बनाम गाय

भारतीय दुग्ध उद्योग को चलाने में भैंसों का योगदान ज़्यादा है। दुग्ध उत्पादन का 57 प्रतिशत भैंसों से मिलता है जबकि 43 प्रतिशत गायों से। गाय और भैंस से मिलने वाले दूध और दुग्ध उत्पादों के पोषक मूल्यों और उनकी पाचनशीलता में मामूली अन्तर है। भैंस के दूध में कोलेस्टेरॉल की मात्रा 0.65 मि.ग्रा./ग्राम होती है जबकि गाय के दूध में यह 3.14 मि.ग्रा./ग्राम होती है। भैंस के दूध में पाए जाने वाले प्रोटीनों में **प्रोटीन ऐफीशिएंसी रेशिओ** (पी.ई.आर.) का मान 2.74 होता है जबकि गाय के दूध में यह 2.49 होता है। गाय के दूध की अपेक्षा भैंस के दूध में 11.42 प्रतिशत ज़्यादा प्रोटीन होता है। महत्वपूर्ण खनिजों के मामले में भी भैंस का दूध श्रेष्ठ है। गाय के दूध की तुलना में भैंस के दूध में **कैल्शियम**, **लोहा** और **फॉस्फोरस** क्रमशः 92 प्रतिशत, 37.7 प्रतिशत और 118 प्रतिशत ज़्यादा होते हैं। पानी की मात्रा कम और वसा की मात्रा अधिक होने के कारण वसा-आधारित और एस.एन.एफ. आधारित दुग्ध उत्पादों, जैसे मक्खन, घी और दूध पाउडर बनाने के लिए भैंस का दूध गाय के दूध की तुलना में व्यावसायिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। वास्तव में, **कोलेस्टेरॉल की मात्रा कम** होने के कारण सेहत के प्रति जागरूक बाज़ार में इसे अधिक लोकप्रिय होना चाहिए। छेने की अपारदर्शिता ज़्यादा होने के साथ-साथ ही कोलॉइडल प्रोटीनों, कैल्शियम और फॉस्फोरस के ऊँचे स्तरों के कारण भैंस का दूध गाय के दूध की अपेक्षा **अधिक गहरा सफेद** होता है और उसमें बेहतर सफेदी के गुणधर्म होते हैं।

स्रोत: www.indiadairy.com

दूध में **एसएनएफ** क्या होता है? **सॉलिड नॉन-फैट (Solid Non Fat)** अर्थात गैरवसा ठोस तत्व। ये पानी और वसा अलग करने के बाद दूध में बचने वाले प्रोटीन, खनिज और दूसरे अवयव होते हैं।

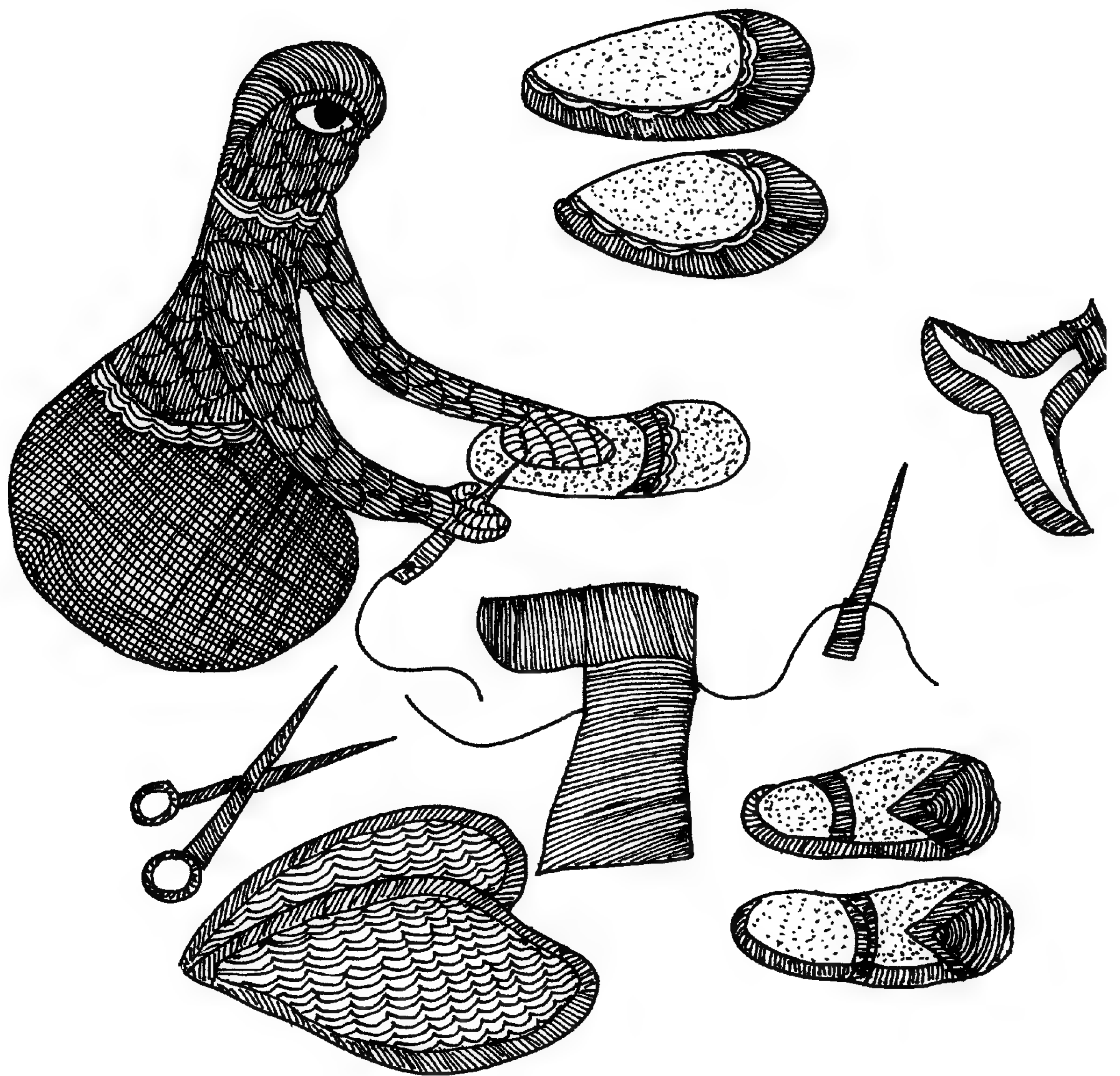


कचरे से खाद

जानिए और करिए!

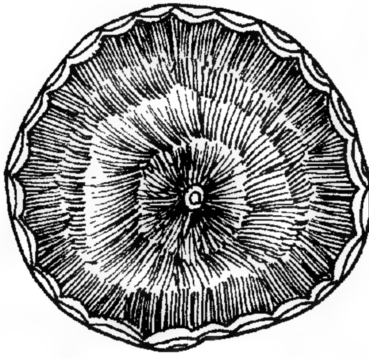


जानवरों के गोबर को खाद में बदलने की प्रक्रिया "कम्पोस्टिंग" कहलाती है। गोबर को एक गड्ढे में सड़ाकर ऐसा किया जा सकता है। कीटनाशकों से मुक्त यह खाद मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए सबसे अच्छी होती है। खेतों में काम करने वाले लोगों और पशुपालकों को गोबर उठाकर उसे गड्ढे में डालने में कोई हिचक नहीं होती। ग्रामीण भारत में गोबर के सुखाए गए चपटे उपले (कण्डे) ईंधन का आम साधन हैं। जानवरों के अपशिष्ट से ऊर्जा पैदा करने वाले इस पर्यावरण-हितकारी सहज विज्ञान की समुचित कद्र नहीं की गई है। बल्कि इन कामों में शामिल लोगों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। आज शहरों और कस्बों के हर घर और आवासखण्ड में खाद बनाई जा सकती है। सड़ने वाले जैविक कचरे को अन्य कचरे से अलग कर उसे एक गड्ढे में सड़ाकर ऐसा किया जा सकता है। इससे एक ओर अन्य चीज़ों के कचरे के पुनः उपयोग में मदद मिलेगी, वहीं दूसरी ओर जैविक खाद को बगीचों और गमलों में लगे पौधों में इस्तेमाल किया जा सकेगा। इसे बेचा भी जा सकता है।



३ चर्मकार

जिन्होंने चर्मशोधन विज्ञान और चमड़ा उद्योग को विकसित किया



जब मनुष्यों ने व्यवस्थित रूप से जीना शुरू किया, तब पशु-पक्षी भी उनके जीवन का हिस्सा बन गए। जिस तरह मनुष्य जन्म लेते हैं, बड़े होते हैं और मर जाते हैं, ठीक उसी तरह जानवर भी पैदा होते हैं, बड़े होते हैं और मर जाते हैं। जहाँ मनुष्य के मरने के बाद उसकी पतली चमड़ी का कोई उपयोग नहीं होता, वहीं जानवरों की मोटी खाल के कई उपयोग होते हैं। हज़ारों सालों के दौरान मनुष्यों ने जानवरों की खाल और चमड़ी को कई उपयोगी चर्मोत्पादों में बदलना सीख लिया है। जानवर की पकाई गई खाल को ही चमड़ा कहा जाता है। पशुओं की खाल को साफ करके और पकाकर सुरक्षित करने की प्रक्रिया को "चर्मशोधन" कहते हैं। चर्मशोधन मनुष्यों को ज्ञात सबसे पुरानी कारीगरी है।

पहले अध्याय में हमने देखा कि किस तरह आदिवासियों के पूर्वजों ने जानवरों का शिकार किया और यह तय किया कि कौन-सा मांस मनुष्यों के खाने योग्य था। आहार के उपार्जन को किफायती बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि उसके सभी सम्भव सह-उत्पादों का उपयोग किया जाए। धीरे-धीरे मनुष्यों ने शिकार किए गए जानवरों की खालों को इस्तेमाल करने के तरीके खोज लिए। शोधित खालों का इस्तेमाल इन्सान के पैरों की रक्षा के लिए, कृषि उपकरणों को चमकाने, गुलेल बनाने, और लोगों को सर्दियों में गर्म रखने व गर्मियों में शीतल रखने के लिए किया जाने लगा। अन्य शिल्प, जैसे कुम्हारी, लुहारी, कताई और बुनाई, काफी बाद में विकसित हुए।

भारतीय उपमहाद्वीप में स्थापित होने वाला सबसे पहला उद्योग चमड़ा उद्योग ही था। मूल्यहीन प्रतीत होने वाली वस्तु को सबके द्वारा उपयोग की जा सकने वाली वस्तु में रूपान्तरित कर देना ही किसी भी उद्योग का काम है।

चर्मकार्य का विज्ञान

चमड़ा कैसे बनता है? सर्वप्रथम, मरे हुए जानवरों – गाय, भैंस, सुअर, बकरी, भेड़, ऊँट – की खालों को उतारा जाता है। इसके बाद, इनकी लाशों को दफन करना ज़रूरी होता है ताकि गाँवों, कस्बों और नगरों को हैज़ा, दस्त जैसी जानलेवा बीमारियों और दूसरी महामारियों से बचाया जा सके।



खाल को छेदे बगैर उतारने के लिए निपुणता ज़रूरी है। चाकू के सटीक इस्तेमाल के लिए हाथों और आँखों का अच्छा तालमेल ज़रूरी होता है। इस काम को करते-करते चर्मकारों को जानवरों की शरीर-रचना का अच्छा-खासा ज्ञान भी हासिल हो गया। इस तकनीक को तराशा गया और आगे की पीढ़ियाँ इसे सीखती गईं। यह शिक्षा सैद्धान्तिक भी थी और व्यावहारिक भी। चर्मकार्य में शामिल समुदायों को देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है – आन्ध्र प्रदेश में मडिगा, तमिलनाडु में अरुन्धतियर तथा उत्तर प्रदेश, पंजाब और कई मध्य उत्तर-भारतीय राज्यों में चमार या चम्बर।

गीली चमड़ी को सड़ने से बचाने के लिए नमक का इस्तेमाल करने का तरीका कई सदियों पहले मडिगाओं/चमारों द्वारा खोजा गया था। आज भी "क्योरिंग" कही जाने वाली इस प्रक्रिया का गाँवों में स्थित मडिगाओं/चमारों की बस्तियों में उपयोग किया जाता है। चमड़ियों और खालों को आधुनिक चर्मशोधन उद्योगों में पहुँचाने से पहले नमक द्वारा संसाधित किया जाता है। जहाँ आजकल के औद्योगिक चर्मशोधनालय कई ऐसे रसायनों का इस्तेमाल करते हैं जो भीषण प्रदूषण फैलाते हैं, वहीं चर्मकारों की कार्यशालाओं में होने वाली चर्मशोधन प्रक्रियाएँ काफी हद तक पर्यावरण के अनुकूल होती हैं।

आन्ध्र प्रदेश के मडिगाओं द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली *तंगेडु* पेड़ की छाल को मराठी और हिन्दी में *तरवर*, तमिल में *आवारम* और कन्नड़ में *अवरिक्के* कहा जाता है। इसका प्रचलित व्यापारिक नाम *टैनर्स कैसिया* है और वानस्पतिक नाम *कैसिया ऑरिकुलैटा* है।

नमक लगी खाल को *तंगेडु* के पेड़ (*कैसिया ऑरीकुलैटा*) की छाल से बने चूर्ण के घोल में डुबोया जाता है। भारतीय चर्मकारों ने खोज निकाला कि *तंगेडु* के पौधे में पाए जाने वाले "टैनिन" (या टैनिक अम्ल) का प्रयोग कच्ची खालों को चमड़े में बदलने के लिए किया जा सकता है। यह प्रक्रिया लगभग पन्द्रह दिनों तक चलती है। चर्मकार प्रतिदिन इस पानी को चखकर खटास का पता लगाते हैं। हर गुज़रते दिन के साथ यह खाल *तंगेडु* के पानी का कुछ रसायन सोखती जाती है, फैलने लगती है और कड़कपन के साथ चमड़े में तब्दील होना शुरू हो जाती है। इसके बाद इस संसाधित खाल को चूने के पानी से भरे टब में रखा जाता है। एक हफ्ते बाद यह खाल चमड़े में तब्दील हो जाती है। फिर इस चमड़े को बहते पानी या तालाब में धोकर साफ किया जाता है। इन चार चरणों से – क्योरिंग, *तंगेडु* के पानी में संसाधित किया जाना, चूने के पानी में डुबोकर रखना, और धोना – त्वचा और खालों को चमड़े में बदलने की प्राकृतिक प्रक्रिया बनती है। अपने उत्पाद को अन्तिम रूप देने के लिए, मडिगा चर्मकार *करुक्काया* नामक फल के सूखे और चूरा किए गए रेशे का प्रयोग करते हैं। इस रेशे को अरण्डी के तेल में उबाला जाता है। ठण्डा होने पर इस घोल को व्यवस्थित रूप से चमड़े पर लगाया जाता है ताकि उसे चमकदार और चिकना बनाया जा सके।



इसके बाद चर्मकार बहुत कुशलता के साथ इस चमड़े को जूते, सैंडिल, रस्सी, बैग और बैल्ट, तथा वाद्ययंत्रों, जैसे ढफली, तबला या मृदंग, में भी रूपान्तरित कर देते हैं। चमड़े के जूते-चप्पलों ने न केवल मनुष्यों के पैरों की रक्षा की बल्कि उन्हें भूमि जोतने में सक्षम भी बनाया। इससे मनुष्यों को प्रकृति के साथ उनके संघर्ष में मदद मिली। जूते, सैंडिल पहनकर ही मनुष्यों ने जंगल साफ किए। चमड़े की रस्सियों की सहायता से हमारे किसानों ने बंजर ज़मीनों को उपजाऊ बनाया। अतः चमड़ा उद्योग ऐसा मूल उद्योग है जिसने दूसरे कई उद्योगों को पैदा किया।



सामाजिक दर्जा

यदि हम विज्ञान को परखे जा सकने वाले उपायों - अवलोकन, पहचानना, वर्णन, प्रयोगात्मक खोज और प्राकृतिक घटनाओं की सैद्धान्तिक व्याख्या -- द्वारा हासिल किया गया ज्ञान या सीखा गया कौशल मानते हैं, तब जो मडिगाओं/चमारों ने हासिल किया वह निश्चित ही विज्ञान था। उनकी इस उपलब्धि की व्यापक सामाजिक उपयोगिता थी। दूसरी ओर, धार्मिक ग्रन्थों में पाए जाने वाले मंत्रों, स्तुतियों और पावन भजनों का सम्बन्ध अलौकिक घटनाओं से था। इनका विज्ञान से कोई लेना-देना नहीं था। वस्तुतः इनसे किसी प्रकार का कोई उत्पादन नहीं होता था। फिर भी, इन धार्मिक ग्रन्थों के पास यह निर्णय करने की शक्ति थी कि चर्मकार अछूत थे। दूसरे समाजों में चर्मकारों ने अपने संघ बनाए और उन्नति की। उन्हें कभी अछूत नहीं माना गया।



संसार भर में चर्मशोधन और चमड़ा उद्योग से जुड़े लोगों का विज्ञान के जनकों के तौर पर आदर किया जाता था। फ्लेमिश समुदाय के पुनर्जागरण कालीन चित्रकार पीटर पॉल रुबेन्स (1577-1640) जूतों के निपुण कारीगर थे और विभिन्न दरबारों में उनका बहुत आदर के साथ स्वागत किया जाता था। आज, मैनोलो ब्लैह्निक, जिमी चू और क्रिश्चियन लूबूटिन मशहूर मोची हैं जो 750 डॉलर प्रति जोड़ी से भी ज़्यादा कीमत वाले अपने डिज़ाइनर जूतों के लिए जाने जाते हैं।

भारत में लोगों को जन्म और कर्म के आधार पर बाँटने वाली जाति व्यवस्था की वजह से इस काम में शामिल लोगों को "अछूत" कहा गया और उन्हें मुख्य गाँव से दूर रहने के लिए मजबूर किया गया। इसी तरह यह भी एक विडम्बना है कि वातावरण को स्वच्छ रखने का काम करने



वाले लोगों को गन्दा माना गया। इन कुशल लोगों को – जो अब अपने आत्मसम्मान की खातिर खुद के लिए "दलित" शब्द का प्रयोग करते हैं – अज्ञानी माना गया जिनकी धर्म जगत में कोई जगह नहीं थी। उन्हें इन कामों को उनका सामाजिक कर्तव्य मानकर करने के लिए मजबूर किया जाता रहा। फिर भी, न तो उन्हें उचित सम्मान दिया गया और न ही इन कामों के लिए सही वेतन। यहाँ तक कि जब वे लोग यह काम छोड़ना चाहते थे तो उन्हें ऐसा नहीं करने दिया गया। डॉ. बी. आर. अम्बेडकर जैसे नेता की सलाह मानते हुए चर्मकारों ने समानता प्राप्त करने के लिए प्रयास शुरू किए। वे दूसरे व्यवसायों की ओर भी जाने लगे। उनमें से कई अपने पारम्परिक काम छोड़कर खेतिहर मज़दूर बन गए। पर वे आज भी तिरस्कार सहते हैं।

सामाजिक अनुक्रम में सबसे निचले स्थान पर रखकर चर्मकारों को सामाजिक आदर से तथा शिक्षा जैसे संसाधनों से वंचित रखा गया और उन्हें गाँवों की साझा ज़मीन और पानी का कभी उपयोग नहीं करने दिया गया। आर्थिक रूप से भी उनकी उन्नति नहीं होने दी गई। ऐसे काम को हेय दृष्टि से देखे जाने के कारण भारतीय उपमहाद्वीप में वैज्ञानिक प्रवृत्ति और औद्योगिक विकास को क्षति उठाना पड़ी। ऐसे जानकार समुदायों की उपेक्षा ही भारत के पिछड़ेपन का कारण है।

स्वास्थ्य कर्मचारी

मनुष्यों का स्वच्छ और स्वस्थ वातावरण में रहना ज़रूरी है। अन्यथा हम बीमारियों से पीड़ित हो जाएँगे। चर्मकार्य के अलावा, दलितों के कुछ वर्गों को गाँवों और कस्बों में सफाई कार्य करने के लिए मजबूर किया गया जिसकी उन्हें भारी शारीरिक और मानसिक कीमत चुकानी पड़ी। सदियों तक दलितों ने हमारी सड़कों पर झाड़ू लगाई और गाँवों की सफाई की। उनके काम का आदर करने और उनको बेहतर वेतन देने की बजाय समाज ने अकुशल कहकर उनकी निन्दा की। स्वच्छंता



और जीवन के लिए ज़रूरी स्वास्थ्यकर परिवेश के प्रति इस तरह की नकारात्मक सोच का ही नतीजा है कि भारत में शारीरिक स्वच्छता आज भी एक मुद्दा बनी हुई है। हम यह मानकर लापरवाही से कूड़ा-करकट और गन्दगी फेंक देते हैं कि दूसरे उसे साफ कर देंगे। स्वच्छता के प्रति ऐसे रवैए के कारण भारतीय लोग अक्सर गन्दे समझे जाते हैं।

सड़क झाड़ने के कार्य का अनादर करने की बजाय लड़के-लड़कियों को अपने घरों की झाड़ा-बुहारी करना और अपने पर्यावरण को स्वच्छ रखना सीखना चाहिए। साथ ही साथ हमें मनुष्यों द्वारा हाथ से की जाने वाली मैले की सफाई के काम के उन्मूलन के लिए प्रयत्न करना चाहिए और चर्मकारों की काम करने की स्थितियों को सुधारना चाहिए। दलित भारत में विज्ञान और उद्योगों की शुरुआत करने वाले लोग हैं, और सदियों से बुनियादी तकनीक के साथ उनका सहज नाता रहा है। अतः वे वर्तमान समाज के हर क्षेत्र में श्रेष्ठता की आकांक्षा करने योग्य हैं। वे शिक्षक, अधिकारी, वैज्ञानिक, चिकित्सक, पुरोहित, प्रबन्धक, राजनेता और इंजीनियर भी बन सकते हैं। 



रोम में...



रोमन सम्राट डायोक्लेशियन द्वारा जारी किए गए फरमान (303 ई.) के ज़रिए कई प्रकार के सामानों और सेवाओं के उच्चतम मूल्य तय किए गए, जिनमें बकरी, भेड़, मेमने, लकड़बग्घे, हिरण, जंगली भेड़, भेड़िए, चितराल, ऊदबिलाव, भालू, सियार, सील मछली, तेन्दुए और शेर की खालें और उनसे बना चमड़ा शामिल थे। इस फरमान के अन्तर्गत, गाय की खालों का तो समूहों और गुणों के आधार पर वर्गीकरण भी किया गया था।

इसी दौरान, भारत में...

"परम्परागत रूप से जाति बहिष्कृत माने गए लोगों को अपनी गुज़र-बसर घोड़ों और रथों के रखरखाव, चिकित्सकीय उपचार, बढ़ईगिरी, मछली मारने, पशुवध करने, चमड़े का काम करने, ढोल बजाने आदि कामों द्वारा करना चाहिए। इन जातियों को टीलों, पेड़ों और शमशान के पास, पहाड़ों तथा जंगलों में रहना चाहिए। अछूत गाँव के बाहर रहें, फेंके हुए कटोरों का प्रयोग करें, और टूटे हुए बरतनों में भोजन करें। कुत्ते और बन्दर इनकी सम्पत्ति हों।"

पद 46-50, अध्याय 10, *मनुस्मृति,* पहली सदी ईसवी में लिखा गया एक संस्कृत ग्रन्थ



क्या आप जानते हैं?

आन्ध्र प्रदेश के एक छोटे-से गाँव निम्मलकुण्टा में चमड़े के गुड्डे-गुड़िया बनाने की पुश्तैनी कला का काम होता है। एक समय, गाँवों और छोटे कस्बों में गुड्डे-गुड़ियों के तमाशे मनोरंजन का प्रमुख साधन हुआ करते थे। आज टेलिविज़न और सिनेमा ने इनकी जगह ले ली है। इसलिए, चमड़े के गुड्डे-गुड़ियों के कारीगर चमड़े से अन्य उपयोगी वस्तुएँ, जैसे सुन्दर लैम्पशेड और खिलौने बना रहे हैं।

जानिए और करिए!



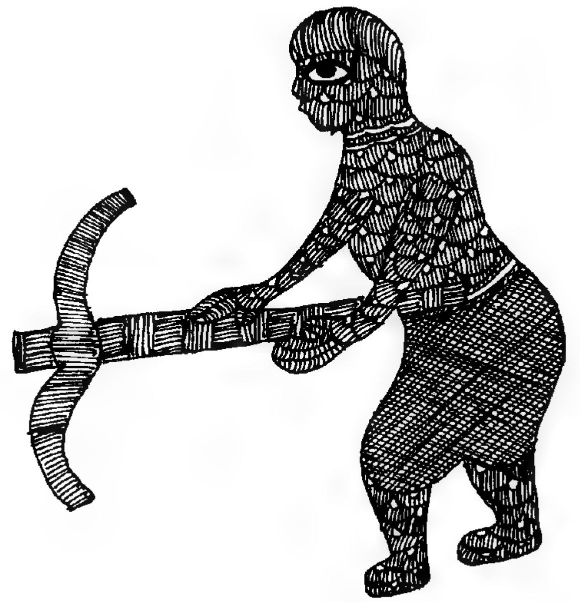
जानवर की खाल को चमड़े में बदलने की प्राकृतिक प्रक्रिया के चार चरणों को दर्शाता हुआ फ्लो चार्ट बनाएँ।

हाथ से की जाने वाली मैले की सफाई बन्द हो

2005 तक के आँकड़ों के हिसाब से भारत में 13 लाख सफाई कर्मचारी हैं जो 96 लाख सूखे शौचालयों में काम करते हैं। हर रोज़ उन्हें अपने हाथों से पाखाने को ठिकाने लगाने के लिए मजबूर होना पड़ता है। भारत में ऐसी शर्मनाक व्यवस्था बने रहने के लिए हमारी उदासीनता और मौन ज़िम्मेदार है। संविधान द्वारा 1993 में प्रतिबन्धित किए जाने के बावजूद राज्य के सक्रिय समर्थन के चलते मनुष्यों द्वारा हाथ से मैला साफ किए जाने की यह व्यवस्था अभी भी जारी है। अकेले आन्ध्र प्रदेश में ही दो लाख सूखे शौचालय हैं। देश में आज भी कई सैनिक छावनियों में सूखे शौचालय ही उपयोग में लाए जा रहे हैं। भारत के हर रेलवे स्टेशन पर भी यह चलन जारी है। अतः जब गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकी हुई हो तो कभी शौचालय का प्रयोग न करें। स्कूल जाने वाले हर बच्चे को चाहिए कि वह सम्बन्धित मुख्यमंत्री, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, समाज-कल्याण मंत्री और रेलमंत्री को पत्र लिखकर इस चलन को प्रभावी तौर पर प्रतिबन्धित करने की माँग करे। मनुष्यों द्वारा हाथ से मैला साफ किए जाने के अमानवीय चलन के खिलाफ अपना विरोध दर्ज कराने के अन्य तरीकों पर विचार कर उन्हें सामने रखें।

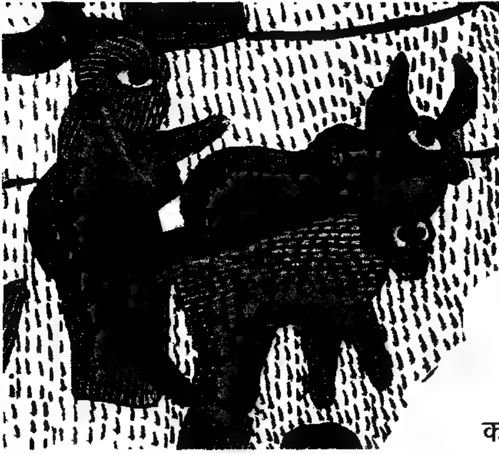
कचरे की गाड़ी में सफर करें

उस कचरे का क्या होता है जो आप रोज़ कूड़ेदान में फेंकते हैं? कितने लोग प्राकृतिक तरीके से सड़ने वाले कचरे और न सड़ने वाले कचरे को अलग करते हैं? यह कचरा कहाँ जाता है? कौन लोग हैं जो इसे हमारे घरों, स्कूलों और दफ्तरों से ले जाते हैं? कुछ दोस्तों को इकट्ठा करें और अपने मोहल्ले या गली के सारे घरों से कचरा एकत्रित करके उसे कचरे के ढेर तक पहुँचाएँ, जहाँ से नगरपालिका की गाड़ी उसे ले जाती है। सफाई कर्मचारियों के साथ जाने की कोशिश करें और देखें कि यह सारा कचरा आखिर जाता कहाँ है। क्या आपको लगता है कि हमारे कस्बों और गाँवों में कचरा ठिकाने लगाने की प्रक्रिया वैज्ञानिक दृष्टि से सही और स्वास्थ्यकर है? अपने अनुभव और इकट्ठी की गई जानकारी पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखें।

५ किसान

जिन्होंने संस्कृति की सबसे पहली अभिव्यक्ति – कृषि – का आविष्कार किया और जो अनाजों, दालों, फलों और सब्ज़ियों द्वारा हमारा पोषण करते हैं



शिकार तथा संग्रह करना सीखने और जंगली जानवरों को पालतू बनाने के बाद मनुष्यों ने जब व्यवस्थित जीवन जीना आरम्भ किया, तब उन्होंने भूमि से भोजन पैदा करने की कोशिश की। मानव सभ्यता के इतिहास में यह बड़ी महत्वपूर्ण प्रगति थी। पर जिस ज़मीन पर मनुष्यों ने काम किया, वह पहले से ही जुताई या खेती के लिए तैयार अवस्था में नहीं थी। उस पर पेड़, चट्टानें, पहाड़, घाटियाँ और खड्डे थे। मनुष्यों ने कई तरह से श्रम करके खेती के रूप में जानी जाने वाली प्रक्रिया के ज़रिए भूमि को भोजन का स्रोत बना दिया। उन्हें पेड़ काटने पड़े, चट्टानों को हटाना पड़ा और ज़मीन को समतल करना पड़ा। सतत निरीक्षण तथा परीक्षण के द्वारा उन्होंने जंगल में पाए जाने वाले उपयुक्त पौधों का चयन किया और उन्हें कृषि के लिए विकसित किया।

इन कार्यों के लिए सूझ-बूझ के साथ अत्यधिक मानव श्रम की आवश्यकता थी। इस सबके लिए आवश्यक तकनीक विकसित करना भी ज़रूरी था। भूमि को खाद्य पौधों का स्रोत बनाने के विज्ञान को ही कृषि के नाम से जाना जाता है। सभी सभ्यताओं में कृषि की शुरुआत लेखन से पहले हुई। कृषि के विकास में "नैसर्गिक" कुछ भी नहीं था; यह निश्चित ही एक "आविष्कार" था। 8000 ई.पू. और 3500 ई.पू. के मध्य मनुष्यों की अधिकाधिक आबादी जीवन निर्वाह के लिए खेती की फसलों और पालतू पशुओं पर निर्भर होती गई। कृषि के सबसे शुरुआती औज़ार पत्थरों से बनाए गए। फिर लकड़ी और चमड़े का उपयोग किया जाने लगा। बाद में इनकी जगह लोहे और अन्य धातुओं के औज़ारों ने ले ली।

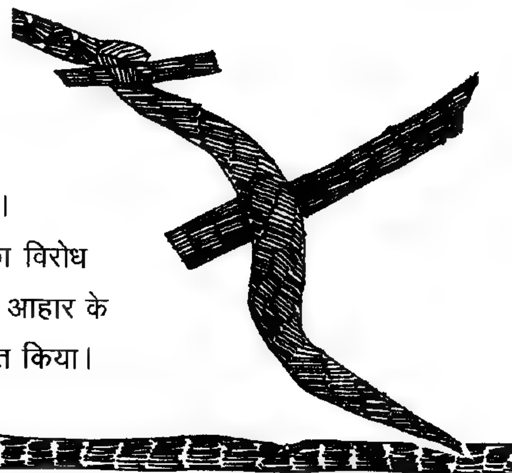
सामाजिक दर्जा

भारत में भूमि जोतने का लम्बा इतिहास है। जैसा कि हमने एक पिछले अध्याय में देखा है, पशुपालक समुदायों द्वारा जानवरों को पालतू बना लेने से हमें मांस, चमड़ा, ऊन, दूध और अन्य दुग्ध उत्पाद प्राप्त हुए। इसी के साथ पालतू जानवरों, जैसे भैंसों और बैलों को भूमि जोतने, गाड़ी खींचने इत्यादि कामों के लिए प्रशिक्षित किया गया। यूरोप में भूमि की जुताई के लिए अगर घोड़ों का उपयोग किया गया, तो भारतीय किसानों ने इस कठिन काम के लिए भैंसों और बैलों को प्रशिक्षित किया। यूरोप में जहाँ घोड़ा-

गाड़ियाँ चलन में आईं, वहीं भारत में बैलगाड़ियाँ प्रचलित हुईं। भारत में घोड़े, जो बाहर से आयात किए गए थे, ज़्यादातर लड़ाइयों के लिए ही इस्तेमाल किए गए।

दुर्भाग्यवश भारत में आज उन सैनिकों और सारथियों का गुणगान किया जाता है जिन्होंने इन विदेशी घोड़ों की सवारी की। वे किसान जिन्होंने देसी बैलों और भैंसों को जोता सम्मान के लायक नहीं समझे गए हैं। भूमि जोतने के काम में शामिल जातियों और समुदायों को "शूद्र" कहा गया और समाज में उन्हें निम्न कोटि का दर्जा दिया गया। तथाकथित "पण्डित" खेती को गँवार लोगों द्वारा किया जाने वाला बुरा काम मानते थे। ऐसी सोच में आहार पैदा करने वालों के प्रति कोई सम्मान नहीं था। ऐसा कोई भी दर्शन या धर्म जो ज़मीन से आहार उत्पन्न करने की प्रक्रिया में होने वाले श्रम और कौशल को हेय दृष्टि से देखता है, लोगों की वैज्ञानिक प्रवृत्ति को नष्ट कर देता है।

आरम्भ में कृषि सम्बन्धी काम हाथ से किया जाता था। भारत में पशुओं का कृषि के लिए इस्तेमाल होना गौतम बुद्ध के समय में शुरू हुआ। बुद्ध के बचपन में जनजातीय गणतंत्र केवल घुमन्तु खेती, जो *झूम खेती* कहलाती है, करना ही जानते थे। आज भी कई आदिवासी समुदाय, विशेषकर उत्तर-पूर्वी राज्यों और उड़ीसा में, इस तरह की खेती का प्रयोग करते हैं। झूम खेती में एक बार इस्तेमाल की जा चुकी ज़मीन खाली छोड़ दी जाती है, और अगली फसल के लिए किसी नए भूखण्ड का प्रयोग किया जाता है। बौद्धकाल में भूमि जुताई के लिए बैलों को जोता जाना और हल का प्रयोग शुरू होना क्रान्तिकारी घटनाएँ थीं। वहीं, सातवीं और छठी शताब्दी ई.पू. के दौरान, वैदिक यज्ञों (अग्नि के अनुष्ठान, जिनमें पशुओं की बलि दी जाती थी) में हज़ारों की तादाद में पशु मारे जा रहे थे। कृषक वर्गों ने बौद्ध धर्म का सहारा लेकर जानवरों की बलि का विरोध किया। बौद्ध धर्म ने पशुओं को खेती के कामों में लगाने और उन्हें आहार के एक स्रोत के रूप में इस्तेमाल करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया।





भूमि जोतने का विज्ञान

कृषि विज्ञान है और आजकल विश्वविद्यालयों में इसे विज्ञान की तरह से ही पढ़ा जाता है। यह जानना ज़रूरी है कि भूमि को कैसे और कब जोता जाता है। किसी कठिन ज़मीन पर भैंस या बैल की सहायता से हल चलाने के लिए गहन प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। किसानों ने पीढ़ी दर पीढ़ी अपने बच्चों को ऐसा करना सिखाया है। लेकिन सदियों तक किसानों के बच्चों को स्कूल नहीं जाने दिया गया। उन्हें पढ़ाई-लिखाई से वंचित रखा गया। उन्हें अपने माता-पिता से केवल कृषि कार्यों की ही शिक्षा मिली। चूँकि किसानों को खुद भी पढ़ने-लिखने की इजाज़त नहीं थी, अतः उनके कृषि सम्बन्धी ज्ञान को ज्ञान माना ही नहीं गया।

एक-एक खाँचे को जोतने के लिए योजना और बुद्धिमत्ता की ज़रूरत होती है। किसानों को पता होता है कि अगर मूंगफली जैसा बीज बोया जा रहा है तो खाँचे को गहरा होना चाहिए; यदि मूंग का बीज है तो खाँचे को उथला होना चाहिए। सही मौसम में सही फसल की खेती करना पड़ती है। किसान को उस भूमि की प्रकृति के बारे में भी जानकारी होती है जिसे वह जोतता/जोतती है और उन पशुओं के मनोविज्ञान की भी समझ होती है जिन्हें वह हल चलाने के लिए उपयोग करता/करती है। शारीरिक और बौद्धिक श्रम के मेल से ही खेती होती है। सिद्धान्ततः सभी शारीरिक कामों में मानसिक श्रम शामिल होता है। पर यह ज़रूरी नहीं कि सभी दिमागी कामों में शारीरिक उद्यम शामिल हो।



क्या आप जानते हैं?

केन्द्रीय धान अनुसन्धान संस्थान, कटक के निदेशक रहे प्रख्यात धान वैज्ञानिक श्री आर. एच. रिछारिया के अनुसार भारत में इस समय चावल की 2,00,000 किस्में हैं। हर किस्म का अपना विशिष्ट प्रयोजन और उपयोग है। रिछारिया ने पूर्व में मध्य प्रदेश का हिस्सा रहे और अब अलग राज्य बन चुके छत्तीसगढ़ में ही चावल की 20,000 किस्मों की पहचान कर उनका संग्रह किया था।



सन् 2002 के एक आकलन के अनुसार विश्व की 42 प्रतिशत आबादी खेती के काम में लगी हुई है। भारत की लगभग 50 करोड़ श्रमिक आबादी में से 60 प्रतिशत कृषि में संलग्न है।

अन्य समाजों में व्यवसाय को जन्म से जोड़ने वाला कोई नियम नहीं था। एक पीढ़ी में किसी व्यवसाय से जुड़े लोग अगली पीढ़ी में किसी अन्य व्यवसाय को अपना सकते थे। किसानों के बच्चे भूमि जोतने के साथ-साथ पढ़ना-लिखना भी सीखते थे। पर भारत में जाति व्यवस्था की वजह से ऐसा होना सम्भव नहीं था।

यदि किसानों ने विभिन्न प्रकार की फसलें पैदा न की होतीं और उनमें उपयुक्त परिवर्तन न किए होते तो लोग भूखे मर गए होते। कृषकों और खेतिहर मज़दूरों ने यह सुनिश्चित कर दिया है कि समाज भूखा न रहे। दलितों और आदिवासियों के अलावा अधिकांश खेतिहर मज़दूर उन शूद्र जातियों के होते हैं जिन्हें आज "अन्य पिछड़े वर्गों" के नाम से जाना जाता है। उनके परिश्रम का फल खाना पर उनका आदर न करना सामाजिक पाप है।

विश्व के कई धर्म यह मानते हैं कि ईश्वर ज़मीन पर श्रम करने वालों को, ऐसे काम से नफरत करने वालों की अपेक्षा, अधिक प्रेम करता है। दरअसल, अधिकतर समाजों में किसान जो चाहें बन सकते हैं। ऐसे समाज में जहाँ श्रम का आदर किया जाता हो, एक किसान पुरोहित बन सकता है और एक पुरोहित खेती कर सकता है। यदि हमारे देश में किसानों के बच्चों को अच्छे स्कूलों में पढ़ाया जाए तो वे भी शिक्षक, पत्रकार, ठेकेदार, इंजीनियर, फिल्म निर्माता और प्रशासक बन सकते हैं।

जानिए और करिए!



जो भोजन आप करते हैं

इस किताब को पढ़ने वाले आप में से कई लोग ऐसे होंगे जिन्होंने ज़मीन पर काम न किया हो। हो सकता है कि आपने गमलों में लगे पौधों की देखभाल की हो या अपने घर के बगीचे में काम किया हो। तथापि, आप के द्वारा किया जाने वाला अधिकांश भोजन उन लोगों के परिश्रम से आता है जो पौधों और फसलों की खेती करते हैं। हमारे मुख्य आहार – अनाज और दालें तथा सब्ज़ियाँ और फल – खेती में होने वाली मेहनत की ही उपज हैं। हो सकता है कि आपके लिए यह सीखना सम्भव न हो कि फसलों की खेती कैसे होती है। पर आप पड़ोस के किसी गाँव के खेत पर जाकर कृषि-कार्यों की जानकारी ज़रूर हासिल कर सकते हैं। जैसेः बीज कब बोए जाते हैं? वे किस मौसम में बोए जाते हैं? किसी फसल की कटाई कब होती है? गन्ना, चावल, मक्का और कपास जैसी फसलों की खेती करने में क्या अन्तर होता है? नकदी फसलें क्या होती हैं? किसान फसलों की अदला-बदली क्यों करते हैं? किसानों की उपज का क्या होता है? वह हम तक कैसे पहुँचती है? ऐसे कितने किसान और मज़दूर हैं जिनके पास अपनी ज़मीनें हैं? किसी फसल से कोई किसान कितना कमाता है? कोई खेतिहर मज़दूर एक दिन में कितना कमाता है? क्या पुरुषों और स्त्रियों की कमाई एक-समान होती है? क्या हमारा भोजन पैदा करने वालों के पास स्वयं खाने के लिए पर्याप्त भोजन होता है?

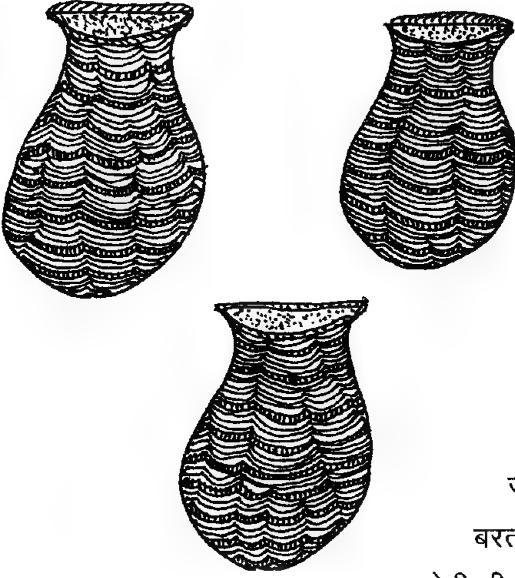
किसानों की आत्महत्याएँ

क्या आपने किसानों द्वारा आत्महत्या किए जाने के विषय में पढ़ा है? ऐसी आत्महत्याएँ किन राज्यों और किन ज़िलों में हो रही हैं? ये लोग आत्महत्या क्यों कर रहे हैं? उनकी समस्याएँ क्या हैं? वे कौन-सी फसलें उगाते हैं? अखबारों और पत्रिकाओं की रपटें देखें, किताबों से जानकारी लें, इंटरनेट पर खोजें, अपने माता-पिता/शिक्षकों से चर्चा करें, और किसानों की आत्महत्याओं पर दो पन्नों का निबन्ध लिखें।



ऽ कुम्हार

इसमें हम जानेंगे कि कैसे इन लोगों ने मिट्टी को सजीव बनाकर इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत की



मिट्टी के बरतन बनाने की कला अर्थात् कुम्हारी सबसे पुरानी और सर्वाधिक प्रचलित कला मानी जाती है। कुम्हारी की सबसे शुरुआती कृतियाँ कच्ची मिट्टी को हाथों से आकार देकर बनाई जाती थीं और उन्हें कठोर बनाने के लिए हवा और धूप में सुखाया जाता था। ऐसे बरतन "कुण्डलीकरण" के तरीके द्वारा बनाए जाते थे, जिसमें मिट्टी को रस्सियों या कुण्डलियों की शक्ल दे दी जाती थी और बाद में वांछित स्वरूप पाने के लिए इन्हें पीट-पीटकर जोड़ दिया जाता था। इसके बाद कुण्डलियों को चिकना किया जाता था। इस तरीके से बनाए गए बरतन पानी भरने के लिए इस्तेमाल नहीं किए जा सकते थे क्योंकि सरन्ध्र मिट्टी द्वारा पानी सोखे जाने पर वे ढह जाते थे। जल्दी ही मनुष्यों ने खोज लिया कि मिट्टी को आग में पकाए जाने पर बरतन ज़्यादा समय तक चलता था क्योंकि पकाई गई मिट्टी ज़्यादा टिकाऊ होती थी। इस खोज के साथ ही मिट्टी की शिल्प कला का जन्म हुआ। फिर डलिया को मिट्टी और डामर के अस्तर लगाकर पकाया जाने लगा और संग्रहण के लिए उसका उपयोग किया जाने लगा।

जल्दी ही गिलहरियों, चींटियों और चूहों की तरह मनुष्यों ने भी भोजन को संग्रह करना और सुरक्षित रखना सीख लिया। कुम्हारों द्वारा बनाए गए बरतन इस दिशा में पहला कदम थे। पकाए गए बरतनों का खाना बनाने और संग्रहण के लिए उपयोग किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुम्हार का चाक सबसे पहले प्राचीन मेसोपोटामिया और पश्चिम एशिया के दूसरे हिस्सों में 5500 ई.पू. के आसपास विकसित हुआ। मनुष्यों द्वारा यातायात के लिए खड़े चक्कों का इस्तेमाल शुरू करने के पहले से ही आरों वाले आड़े (क्षैतिज) चाक का कुम्हारी के काम में उपयोग किया जा रहा था। भारत में चाकों का उपयोग पूर्व सिन्धु काल में 4000 ई.पू. के आसपास होना शुरू हुआ। प्रारम्भिक सिन्धु घाटी सभ्यता के दौरान कुम्हारी कला काफी विकसित थी। वस्तुतः सिन्धुकालीन संस्कृति को "पूर्व" और "उत्तर" कालों में उनकी अलग-अलग प्रकार की कुम्हारी कलाओं के आधार पर ही बाँटा गया है।

मिट्टी के बरतन इतिहास लिखने के लिए भी एक महत्वपूर्ण स्रोत रहे हैं। पुरातत्व विज्ञान कार्बन-काल गणना

का उपयोग करके यह तय करने में हमारी मदद करता है कि मृद्भाण्ड कला का कोई नमूना किस काल से सम्बन्ध रखता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि धातु, लकड़ी या कपड़े के विपरीत मिट्टी के बरतन ज़ंग या विघटन के प्रतिरोधक होते हैं। पकाई हुई मिट्टी धरती पर एकमात्र ऐसा पदार्थ है जो समय के साथ नहीं बदलता। इसलिए प्राचीन कब्रगाहों से निकाले गए कलश कभी-कभी साबुत पाए जाते हैं।

सृजनकर्ता के रूप में कुम्हार

मिट्टी के शिल्पियों के गुणी समुदाय को – जो उत्तर भारत के अधिकांश हिस्सों में "कुम्हार", तेलुगु में "कुम्मारि" और तमिल में "कुयवर" नाम से जाना जाता है - - वैदिक काल के उपरान्त "नीची" जाति माना जाने लगा। क्योंकि मूल बरतन कोख की तरह दिखाई देता है, इसलिए प्रारम्भिक मानव सभ्यताएँ ऐसे बरतन को पवित्र और उर्वरता का प्रतीक मानती थीं। पर बाद में कला के इतने उत्कृष्ट रूप गढ़ने वालों को अज्ञानी मानकर हेय दृष्टि से देखा गया। भारत में सदियों तक कुम्हारों को औपचारिक शिक्षा से दूर रखा गया। वास्तव में, यदि हम गौर करें, तो धरती के विभिन्न रूपों – कीचड़, मृदा और चिकनी मिट्टी – का काम करने वाली अधिकांश जातियों को जाति व्यवस्था में नीचा स्थान दिया गया क्योंकि ऐसा माना गया कि वे "अशुद्ध" पदार्थों के साथ काम करते थे। किसी भी तरह के उत्पादक काम से जुड़ी जातियों को हेय माना जाता रहा है। चूँकि प्रकृति ने महिलाओं को प्रजनन क्षमता दी है, अतः उन्हें भी "अशुद्ध" माना गया। जबकि पूजा-पाठ, जादू-टोने, प्रशासन और लेखन में संलग्न जातियों को सुविज्ञ माना जाने लगा। बरतन बनाने में निश्चित ही विज्ञान, कौशल और कला का भरपूर समावेश होता है, जैसा हम आगे देखेंगे।



बरतन की रचना

बरतन बनाने के लिए सही प्रकार की मृदा का चयन महत्वपूर्ण है। मृदा के तीन प्रमुख प्रकारों में से एक, चिकनी मिट्टी, बरतन बनाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। अन्य किस्म की मिट्टियाँ – बालुई और दुमट – बरतन बनाने के लिए उपयोगी नहीं होतीं। बरतन बनाने में चिकनी मिट्टी का उपयोग इसलिए किया जाता है क्योंकि यह दूसरे प्रकार के कणों को भी एक साथ बाँधकर रखती है। परन्तु शुद्ध चिकनी मिट्टी वाली मृदा में बहुत आसानी से ढेले बन जाते हैं; अतः कुम्हार चिकनी मिट्टी में भूसा, राख, बालू और खड़िया मिलाकर उसे सुधारता है। भारत में कुम्हार मिट्टी को और लचीला बनाने के लिए उसमें चिकनी राख और कभी-कभी लकड़ी का कोयला मिला देते हैं। मिट्टी के चूल्हे बनाने के लिए लकड़ी के कोयले को भूसे के साथ मिश्रित करके चिकनी मिट्टी में मिलाया जाता है। मिट्टी के बरतनों को रँगने के लिए जैविक पदार्थों और चूने का उपयोग किया जाता है।

इस संशोधित मिट्टी को चाक की धुरी पर "फेंका" जाता है। सपाट चक्र एक धुरी पर घूमता है। चाक एक मेज़ की तरह काम करता है और कुम्हार उसे हाथों से गोल घुमाता है। आरम्भिक चाक पत्थर और लकड़ी से बनाए जाते थे। आजकल कॉंक्रीट के चाकों का भी उपयोग किया जाता है। चाक में बने एक खाँचे में एक छड़ी फँसाकर कुम्हार उसे गति देता है। यह तरीका आज भी कई भारतीय गाँवों में उपयोग किया जाता है। अन्य लोग पुरानी सिलाई मशीनों पर लगे फुट-पम्प जैसे ट्रेडिल का प्रयोग करते हैं। शहरों के नज़दीक रहने वाले कुम्हार बिजली से चलने वाले चाकों का इस्तेमाल करते हैं।

पहले कुम्हार सनी हुई मिट्टी का एक ढेला चाक के ऊपरी हिस्से पर रखता है। घूमते हुए चाक की लय की सहायता से कुम्हार दोनों हाथों का उपयोग करके मिट्टी को मनचाहा रूप देते हुए उसे "केन्द्रित" करता है। इस तरह से बने मिट्टी के बेलन के ऊपरी हिस्से में अँगूठा घुसाकर कुम्हार नीचे की ओर दबाव डालता है। इसके बाद वह एक हाथ अन्दर की ओर तथा दूसरा हाथ बाहर की ओर रखकर बरतन को हर तरफ से खींचते हुए उसका आकार बढ़ाता जाता है। इसमें मिट्टी को चाम्पकर और दबा-दबाकर उसे मनचाहे आकार, जैसे कटोरा, बरनी या प्याले आदि, में ढाल लिया जाता है। इस प्रारम्भिक अवस्था में बरतन की दीवारों को मोटा रखा जाता है ताकि फिर उन्हें वांछित रूप में ढाला जा सके। चाक के घूमते रहने के दौरान ही कुम्हार एक हाथ अन्दर और एक हाथ बाहर रखते हुए बरतन का मुँह



क्या आप जानते हैं?



कुम्हारी का लेखन के विकास के साथ करीबी सम्बन्ध है। मनुष्य का सबसे पहला लेखन – प्रारम्भिक लिपि का उपयोग – मिट्टी के बरतनों पर उत्कीर्णनों के रूप में हुआ। प्रारम्भिक लेखन, जैसे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा (2500 ई.पू.) में पाई गई सिन्धुकालीन लिपि, तमिलनाडु के आदिच्चनल्लूर (ई.पू. 5वीं सदी) में पाई गई तमिल-ब्राह्मि लिपि, और मेसोपोटामिया के मृद्भाण्डों (3000 ई.पू.) पर मिली प्राचीनतम लिपि इसके उदाहरण हैं। अतः यह मुमकिन है कि सबसे पहला शिक्षित समुदाय कुम्हारों का ही रहा हो।

और किनारियाँ बनाता है। मनुष्यों की तरह ही बरतन में भी मुँह के नीचे वाले भाग को गला, निचले आधे हिस्से को पेट और उसके आधार को पैर कहा जाता है।

कुम्हार को अपना पूरा ध्यान उस वस्तु पर केन्द्रित करना पड़ता है जो वह बना रहा होता है और बरतन का मुँह और किनारे गढ़ने के लिए उसे अपनी उँगलियों का चतुराई और कुशलता से इस्तेमाल करना पड़ता है। जिस तरह मनुष्य की शारीरिक सुन्दरता की अभिव्यक्ति उसके चेहरे (मुँह, होंठ, नाक और आँखों) से होती है, उसी तरह किसी बरतन की खूबसूरती उसके मुँह, किनारों और उसके चारों ओर बनाई गई नक्काशी से झलकती है। कुम्हार बरतन पर नक्काशी और आकृतियाँ बनाने के लिए सिर्फ अपने नाखूनों का इस्तेमाल करता है। इसके बाद बरतन को चाक से हटा लिया जाता है। यहाँ पर, एक गीले कपड़े और लकड़ी के तख्ते की सहायता से खाली हाथों का इस्तेमाल करते हुए बरतन को अन्तिम आकार दिया जाता है। इसके बाद बरतन को सूखने के लिए पर्याप्त समय तक धूप में रखा जाता है।

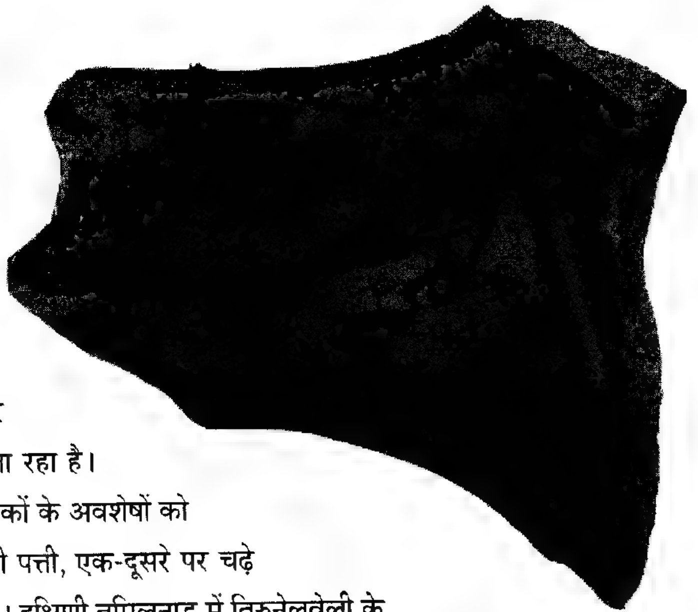


मिट्टी बारीक कणों से मिलकर बने कई मटियाले पदार्थों का साझा नाम है। ये पदार्थ गीले हो जाने पर मुलायम और लचीले हो जाते हैं। रासायनिक तौर पर *मिट्टियाँ जलमय एल्युमीनियम सिलीकेट हैं* जिनमें आम तौर पर थोड़ी मात्राओं में *पोटेशियम*, *सोडियम*, *कैल्शियम*, *मैग्नीशियम* या *लोहे* जैसी अशुद्धियाँ मिली रहती हैं। अपने लचीलेपन के साथ-साथ मिट्टी पकाए जाने और हवा में सुखाए जाने पर सिकुड़ती है। पकाए जाने पर मिट्टी में रंग, कड़कपन और एकजुटता के गुण आ जाते हैं और उसकी सतह *साज-सज्जा किए जाने के काबिल* हो जाती है।

आखिर में कुम्हार धूप में सुखाए गए सभी बरतनों का एक विशाल ढेर बनाकर उन्हें आँवे में जमाता है। बरतन का ढेर लगाते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि कोई भी बरतन टूटने या तिड़कने न पाए। इसके बाद बरतनों के इस ढेर को गोबर और कीचड़ के लेप द्वारा ढाँक दिया जाता है। फिर उन्हें इस तरह से पकाया जाता है कि सारे बरतन सही ताप (500 डिग्री सेल्सियस या अधिक, जो इस बात पर निर्भर करता है कि बरतन को कितना कठोर बनाना है) पर समान रूप से पकें।

विश्व भर में कुम्हारों को सबसे कुशल और कलात्मक समुदायों में से एक मानकर उनका सम्मान किया जाता रहा है। उन्होंने अपनी कला को आज के दौर के अनुरूप ढाल लिया है और इसके अलावा दूसरे व्यवसायों को भी अपनाया है। पकाए गए मिट्टी के बरतन बनाने की शुरुआत क्रान्तिकारी घटना थी। इस प्रकार कच्ची ईंटों के मकानों से हुई शुरुआत का विकास अन्ततः पकाई गई खपरैलों और ईंटों में परिणत हुआ जिनसे मनुष्यों को ज़्यादा स्थायी आवास बनाने में मदद मिली। कुम्हारों द्वारा विकसित किए गए विज्ञान ने पानी संग्रह करने के लिए हौजों के निर्माण को मुमकिन बनाया, जिससे कृषि का दायरा विकसित हुआ। क्या हमें ऐसी बिरादरी को आधुनिक स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ने और इंजीनियर, डिज़ाइनर और वास्तुकार बनने का मौका नहीं देना चाहिए? क्या हमें खुद को ऐसे कलात्मक लोगों के साथ मिलने-जुलने और उनसे कुछ सीखने का मौका नहीं देना चाहिए? कुम्हारों की उपेक्षा करके भारत को बहुत कुछ खोना पड़ेगा। 

मोहनजोदड़ो से आदिच्चनल्लूर तक

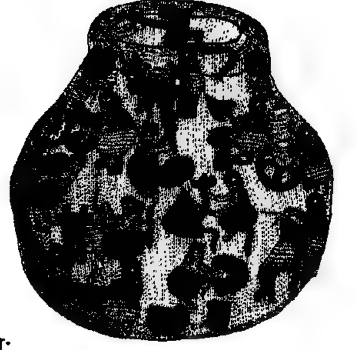


सिन्धु घाटी के नगरों मोहनजोदड़ो और हड़प्पा (2500 से 2000 ई.पू.) की खुदाई में निकले चाक पर बने मिट्टी के बरतन विशिष्ट हैं क्योंकि वे भारी हैं। इनका रंग लाल हो जाने तक इन्हें पकाया गया है और इनकी दीवारें मोटी हैं। कुछ बरतनों को काले रंग से भी रंगा गया है। सिन्धु घाटी के कुम्हारों ने भण्डारण के लिए ढक्कनों और किनारों वाली बरनियाँ, बरतन, थालियाँ, कटोरे और डिब्बे बनाए। दुनिया भर में आदिमकाल से कब्रगाहों में कलशों का प्रयोग किया जाता रहा है। सिन्धु घाटी स्थलों में ऐसे कलश प्रचुरता में मिले हैं जिनमें मृतकों के अवशेषों को रखा जाता है। रूपांकन के लोकप्रिय प्रतीकों, जैसे पीपल की पत्ती, एक-दूसरे पर चढ़े वृत्त और मोर पक्षी को भी कुछ पात्रों पर चित्रित किया गया है। दक्षिणी तमिलनाडु में तिरुनेलवेली के पास ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित आदिच्चनल्लूर में हुई खुदाई में 165 से भी अधिक महापाषाणकालीन कलश निकले हैं। उनमें से लगभग 15 के अन्दर पूर्ण नरकंकाल पाए गए हैं।

साँस लेते हुए, सजीव देवता

कुम्हार केवल बरतन ही नहीं बनाते। दक्षिण भारतीय हिन्दु मन्दिरों के विशाल "गोपुरमों" (मीनारों) को सुशोभित करने वाले देवी-देवताओं, मनुष्यों, पौधों और पशुओं की असंख्य प्रतिमाएँ कुम्हारों द्वारा बनाई गई हैं। और भी अधिक महत्व की बात यह है कि कुम्हार गाँवों के स्थानीय देवी-देवताओं की पक्की मिट्टी की प्रतिमाएँ भी बनाते हैं। तमिलनाडु में देवी-देवताओं की पक्की मिट्टी की प्रतिमाएँ बनाने वाले वेलार समुदाय के अनुसार ब्राह्मणों के आराध्य देवताओं की मूर्तियों को ही स्थायी सामग्री, जैसे मिश्र-धातुओं से बनाया जाता है। गाँवों के स्थानीय देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के लिए मिट्टी जैसी भंगुर सामग्री की आवश्यकता होती है, क्योंकि जिस साँचे में देवताओं को ढाला जाता है, उसका मनुष्यों की भाँति जीता-जागता होना, साँस लेना और नश्वर होना ज़रूरी है।

मृद्‌भाण्ड, शिलाभाण्ड और चीनी मिट्‌टी के बरतन



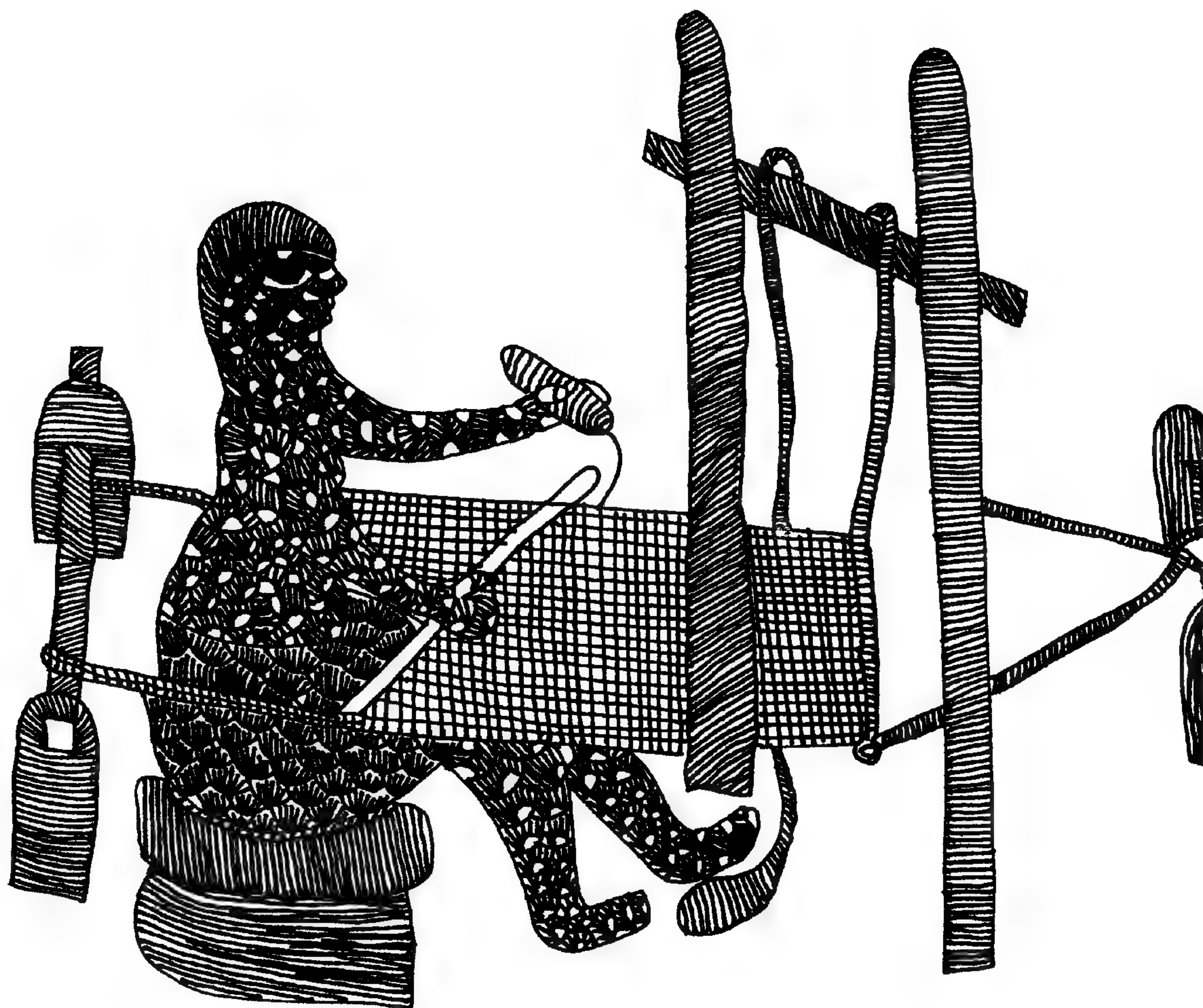
मिट्‌टी के बरतनों की प्रकृति और प्रकार का निर्धारण मिट्‌टी के संघटक अवयवों, मिट्‌टी को तैयार करने के तरीके, उसको पकाए जाने के तापमान और इस्तेमाल किए गए रोगन के प्रकार के आधार पर होता है। मिट्‌टी के बरतनों के तीन खास प्रकार होते हैं: मृद्‌भाण्ड, शिलाभाण्ड और चीनी मिट्‌टी के बरतन। अपेक्षाकृत "कम तापमानों" (500 डिग्री सेल्सियस) पर पकाए गए बरतन मृद्‌भाण्ड कहलाते हैं। यह मिट्‌टी के बरतनों का पहला रूप था। मृद्‌भाण्ड की मिट्‌टी में ज़्यादा अशुद्धियाँ होती हैं, वह थोड़ी सरन्ध्र बनी रहती है, फलतः द्रव पदार्थ इनकी मिट्‌टी की दीवारों से रिस सकते हैं। चमकाने और चिकना बनाने की तकनीकों का इस्तेमाल करके मृद्‌भाण्डों को द्रव रखने लायक बनाया जा सकता है। जब मिट्‌टी के पात्र को और अधिक तापमान पर पकाया जाता है तो वह छिद्र-रहित, कठोर और टिकाऊ बन जाता है। लगभग 1600 डिग्री सेल्सियस पर मिट्‌टी काँच की भाँति हो जाती है। इस प्रकार के मिट्‌टी के बरतन शिलाभाण्ड कहलाते हैं। तीसरा प्रकार है चीनी मिट्‌टी के बरतन जो चीन में विकसित हुए। इन्हें काओलिन (सबसे शुद्ध प्रकार की सफेद मिट्‌टी) और पेटुण्टसे (एक फेल्डस्पेथिक चट्‌टान) से बनाया जाता था। पेटुण्टसे को पीसकर उसका चूरा बनाया जाता था और फिर उसे मिट्‌टी के साथ मिलाकर 1450 डिग्री सेल्सियस पर पकाया जाता था। पेटुण्टसे काँच की तरह हो जाती थी और मिट्‌टी आकार को स्थायित्व दे देती थी। (आप गौर कर सकते हैं कि दुकानों से चीनी मिट्‌टी के जो बरतन हम खरीदते हैं, उन पर "काँच समान" की मोहर लगी रहती है।) चीनी मिट्‌टी ज़्यादा चिकनी और महीन होती है, और सामान्यतः पकाए जाने पर सफेद या पारभासी हो जाती है।



जानिए और करिए!

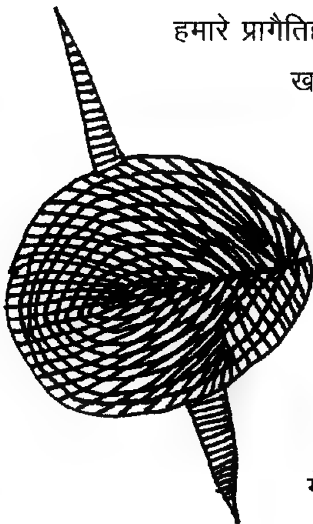
काँच मुख्यतः बहुत अधिक पकाई गई सिलिका बालू है। अतः काँच और मिट्‌टी के बरतनों का विकास एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। थोड़ी खोज करें और कुम्हारी तथा काँच बनाने की कला के बीच सम्बन्ध पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखें।

कुण्डलीकरण और पीट-पीटकर जोड़ने के तरीके द्वारा मिट्‌टी के कुछ खिलौने और दूसरी वस्तुएँ बनाने की कोशिश करें। इन वस्तुओं को सुखाएँ, और यदि सम्भव हो तो उन्हें चूल्हे पर रखकर पकाने की कोशिश करें।



८ बुनकर

जिन्होंने चरखे और करघे का अविष्कार किया, और कपड़े पर जटिल संरचनाएँ बुनकर उसका चित्रपटल की तरह उपयोग किया



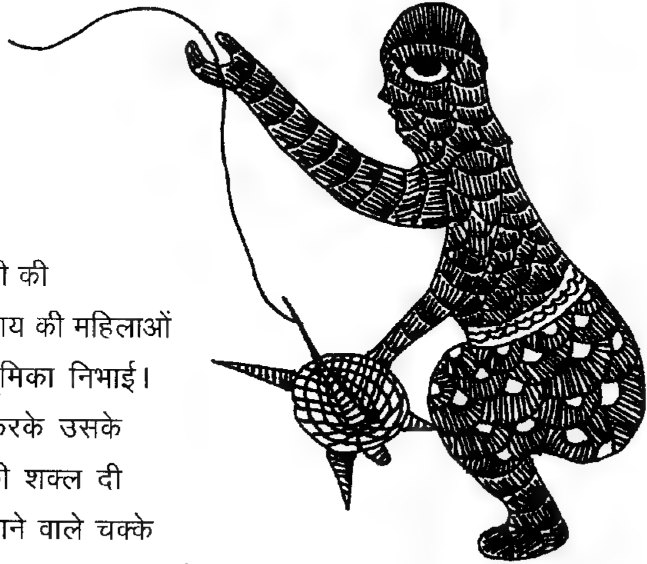
हमारे प्रागैतिहासिक कालीन पूर्वजों ने मौसम के कष्टों से अपने शरीर की रक्षा के लिए जानवरों की खालों, लोमचर्म और पत्तों का उपयोग किया। हो सकता है कि बुने हुए कपड़े का इस्तेमाल काफी पुराने समय (लगभग 7000 ई.पू.) से होता रहा हो। परन्तु इसके सबसे पुराने नमूने, जो मध्यपाषाण युग (लगभग 4600-3200 ई.पू.) के हैं, मिस्र और दक्षिण अमरीका में मिले हैं जहाँ जलवायु शुष्क होने की वजह से कपड़ों का बेहतर संरक्षण हुआ। मिस्रवासियों ने जहाँ लिनेन (मज़बूत, चिकना कपड़ा) बनाने के लिए स्थानीय पटसन के पौधे के रेशों का उपयोग किया, वहीं कपास की खेती सबसे पहले भारतीय उपमहाद्वीप में की गई। एक पूर्व-सिन्धुकालीन स्थान मेहरगढ़ (उत्तर-पूर्वी बलूचिस्तान में स्थित) में 4000 ई.पू. तक कपास की खेती शुरू हो चुकने के साक्ष्य हैं। मोहनजोदड़ो में 2500 ई.पू. तक बुने हुए कपड़ों का उपयोग किया जाने लगा था, यद्यपि व्यापक स्तर पर ऐसा नहीं होता था। मोहनजोदड़ो में पाए गए कपास से बने कुछ कपड़े लाल रंग में रंगे गए हैं। यह रंग मजीठ नामक लता की जड़ों से निकाला जाता था। धीरे-धीरे जूट जैसे प्राकृतिक रेशों का भी - जो मोटे मजबूत धागों के रूप में बुना जा सकता है - वस्त्रों के लिए इस्तेमाल किया गया।

बुनाई तानों और बानों से बनती है। ताने वे धागे होते हैं जिनकी लम्बाई ज़मीन के समानान्तर क्षैतिज रूप से चलती है। बाने तानों के आड़े चलते हैं और उनके साथ गुँथे हुए होते हैं। इससे कपड़ा बनता है। चूँकि ऐसा माना जाता है कि ईश्वर ने सारे ब्रह्माण्ड को बुनकर अस्तित्व दिया है, अतः कई संस्कृतियों में बुनाई को पारलौकिक सन्दर्भ से जोड़ा जाता है।

प्रारम्भ में बुनाई हाथों और उँगलियों का उपयोग करके बड़े परिश्रम और कुशलता से की जाती थी। भारत में गड़रियों के समुदाय अभी भी ऊनी कम्बल बुनने के इस आदिम तरीके का उपयोग करते हैं। प्रारम्भिक कपड़ों के निर्माण का तरीका डलियाँ बुनने की तकनीकों से लिया गया। 4000 ई.पू. से कताई तकले पर की जा रही है। यह मूलतः एक छड़ी होती है जिसमें एक पत्थर या अन्य कोई वज़न जुड़ा रहता है। चरखे का आविष्कार 500 ई.पू. के लगभग शायद भारत या चीन में हुआ। यह हाथ से चलने वाला मूल चक्का था। यूरोप में चरखा बारहवीं सदी में ही पहुँच पाया। आज हमारे पास स्वचालित बुनाई मशीनें और विद्युत करघे हैं, पर रेशे को सूत/धागों में बदलने का मूल सिद्धान्त नहीं बदला है। करघे पर धागों को एक-दूसरे में गूँथने से कपड़ा बनता है।

इस प्रकार बुनकरों ने कई सदियों में कपड़ा बनाने की तकनीक विकसित की। उत्तर भारत में बुनकरों को ज़्यादातर जुलाहा कहा जाता है; तेलुगु में वे पद्मशाली, कन्नड़ में देवांग, मलयालम में पट्टर्या और तमिल में सेंगुन्दर कहलाते हैं। कारीगरों के इस समुदाय को भी जाति व्यवस्था में शूद्र माना गया है और आज यह अन्य पिछड़े वर्गों की सूची में आता है। भारत उन चन्द देशों में से एक है जहाँ मशीन द्वारा बुने जाने वाले कृत्रिम रेशे के वस्त्रों के आगमन के बावजूद पारम्परिक हथकरघों से निर्मित कपड़े अभी भी चलन में बने हुए हैं। तमिलनाडु में कांचीपुरम्, आन्ध्र प्रदेश में पोचमपल्लि और मंगलागिरि, उत्तर प्रदेश में बनारस, उड़ीसा में सम्बलपुर और देश भर के कई और कस्बे ऐसे बुनकरों के लिए विख्यात हैं जो हाथ से रेशमी और सूती कपड़े बुनते हैं।

हथकरघा बुनाई को वास्तव में कला का रूप ही माना जाता है।



कपड़ा कैसे बुना जाता है

सर्वप्रथम बुनकरों को एक ऐसा उपकरण ईजाद करना पड़ा जो धुनी गई और चिकनी की गई कपास से धागे बना सके। बुनकर समुदाय की महिलाओं ने बुनाई के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। निश्चित ही किसी ने तकले को आड़ा करके उसके नीचे लगे वज़न या चकले को घिरनी की शक्ल दी होगी जिसे एक रस्सी के द्वारा किसी घुमाने वाले चक्के से जोड़ दिया गया होगा। हाथ से चलने वाला यह चक्का जो अभी भी चलन में है, यह चरखे का सबसे सरल रूप है और बुनियादी घिरनी प्रणाली पर आधारित है। इस यंत्र को रेशों (कपास, जूट, ऊन) को उमेठकर धागों में बदलने के उद्देश्य से बनाया जाता है। कपड़ा बनाने के लिए घूमने वाले चक्के पर आधारित जो तरीका ईजाद किया गया वही उन टरबाइनों को चलाने की तकनीक का आधार बना जो बाँधों से लेकर परमाणु संयंत्रों तक में उपयोग की जाती है।

चरखा लकड़ी का एक ढाँचा होता है जो एक डण्डी (तकले) से जुड़ा रहता है जिसके निचले सिरे पर लोहे की एक सुई लगी होती है। सूत कातने वाली महिलाएँ अपनी जंघाओं के ऊपर जमाए गए चक्के को चलाते हुए कपास या ऊन से सूत कातती चली जाती हैं। बाद में उन्होंने चक्के में एक हत्था जोड़ लिया। बुनाई वाले इस चक्के को गाँधी ने चरखे के नाम से लोकप्रिय बना दिया और राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौरान यूरोपीय मिलों में बने कपड़े के विरोध में उसे एक प्रतीक के रूप में उपयोग किया।

कपड़ा बनाने के दूसरे चरण में चरखे पर काते गए धागों को अन्ततः करघे पर चढ़ाने के लिए तैयार किया जाता है। लकड़ी के डण्डों की सहायता से धागों को फैलाया जाता है। फिर उन्हें माड़ देकर धूप में सुखाया जाता है ताकि वे कड़े हो जाएँ। तीसरे चरण में माड़े गए इन धागों को लकड़ी के करघे पर चढ़ाया जाता है। करघा तानों को तानकर रखता है ताकि उनमें बानों को सुगमता से बुना जा सके। करघे को इस तरह रखा जाता है कि बुनकर बैठकर काम कर सके। इसे "गड्ढे वाला करघा" कहते हैं। किसी समतल सतह पर रखे गए करघे पर काम करने के लिए बुनकर को झुकना पड़ता है। गड्ढे वाले करघे में इस तकलीफ से बचा जा सकता है। बुनकर अपने पैरों को गड्ढे में डालकर करघे पर बैठता है। गड्ढे के ऊपर तानों के फैले रहने से बुनकर करघे के समतल हो जाता है। करघे के स्तम्भ पैरों द्वारा चलने वाले पेडलों, जिन्हें ट्रेडिल कहते हैं, की एक शृंखला द्वारा नियंत्रित किए जाते हैं। इससे बुनकर के हाथ शटल को चलाने के लिए मुक्त रहते हैं।

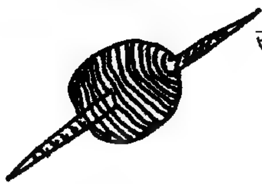
बानों को हाथ से या एक डण्डी से वांछित जगह पर बैठा दिया जाता है। इस डण्डी को शटल कहते हैं। प्रारम्भिक करघों में तानों को एक-एक करके उठाया और गिराया जाता था, जिसमें बहुत ज़्यादा समय और मेहनत लगती थी। आजकल करघों में कम से कम चार स्तम्भ होते हैं। हर स्तम्भ में हेडलों का एक जोड़ा होता है जिनमें से सूत को पिरोया जा सकता है। (हेडल करघे में लगी ऐसी खड़ी रस्सियों या तारों के जोड़े को कहते हैं जो तानों को संचालित करने वाले स्तंभ का मुख्य भाग होते हैं।) स्तम्भों को विभिन्न संयोजनों में उठाते हुए, बुनकर तरह-तरह के ज्यामितीय व कलात्मक नमूने बुनता है। जिस तरह कोई कलाकार चित्रपटल का उपयोग करता है, उसी तरह बुनकर अपनी कल्पना और रचनात्मकता को अभिव्यक्त करने के लिए कपड़े का प्रयोग करता है।



ऐसे गड्ढे वाले करघे को चलाने के लिए बहुत अधिक शारीरिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इस करघे का स्थान बाद में एक ज़्यादा यांत्रिक व्यवस्था ने ले लिया। इसमें भी बुनकर करघे पर बैठ सकता था, पर अब वह ट्रेडिलों पर पेडल मारने की बजाय उसे एक छोटी स्वचालित मोटर से चला सकता था। अन्ततः इसी से विद्युत करघा प्रणाली का जन्म हुआ। इसमें बुनकर का काम केवल यह सुनिश्चित करना होता है कि बगैर कोई धागा टूटे करघा चलता रहे। यदि करघे द्वारा बुने गए धागे कहीं कटे दिखाई पड़ते हैं तो बुनकर उन्हें हाथ से जोड़ देता है।

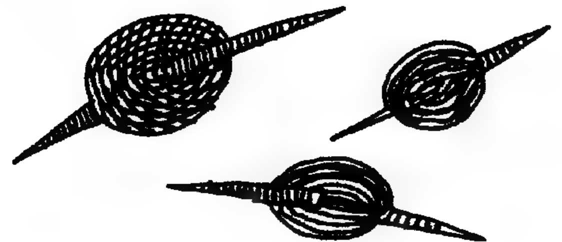
भारतीय कपड़ों का निर्यात

ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारत में स्थापित हो जाने के बाद ब्रिटिश शासक वर्ग भारतीय उपमहाद्वीप के हथकरघा-निर्मित कपड़े के बहुत शौकीन हो गए। दरअसल, इसके भी काफी पहले बंगाल के सूती कपड़े रोमन और चीनी साम्राज्यों को निर्यात किए जाते थे। ढाका (अब बांग्लादेश में स्थित) के बुनकरों द्वारा बनाया गया मलमल बहुत विख्यात था क्योंकि 50 मीटर मलमल का थान दबाकर दियासलाई की डिबिया में समाया जा सकता था। भारत के उत्कृष्ट वस्त्रों का उल्लेख यूनानी दार्शनिक क्लॉडियस टॉलमी (127-148 ई.) की "भूगोल" में, ईसा पूर्व पहली सदी के यूनानी ग्रन्थ *पेरीप्लस ऑफ द एरीथ्रेयन सी* में तथा प्राचीन चीनी यात्रियों के वृत्तान्तों में भी हुआ है।



मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहिं हात।
चारिउ युग को महातमा, कबीर मुखहि जनाई बात।।

कबीर, पन्द्रहवीं सदी में हुए भक्ति रस के कवि, व्यवसाय से बुनकर थे। अपने गीतों में कबीर ईश्वर की तुलना बुनकर से और शरीर की तुलना कपड़े से करते हैं।



अठारहवीं सदी का अन्त आते-आते भारतीय बुनकरों द्वारा बुना गया सूती कपड़ा भारी मात्रा में ब्रिटेन में आयात किया जाने लगा था, ताकि सस्ते, धोए जा सकने वाले हल्के वस्त्रों की विश्वव्यापी मांग की आपूर्ति की जा सके। परन्तु इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति होने के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय बाज़ारों को मशीन से बने सस्ते सूती कपड़ों से पाटना शुरू कर दिया जिससे बुनकरों की जीविका खतरे में पड़ गई। अँग्रेज़ों ने सूरत और बम्बई में सूती कपड़ा उद्योग स्थापित किए और उनमें भारत के निपुण हथकरघा बुनकरों को नौकरी पर रखा ताकि उनसे दुनिया भर में निर्यात के लिए कपड़ा बनवाया जा सके।

परन्तु अपने बुनियादी वैज्ञानिक ज्ञान और कारीगरी कौशल के बावजूद बुनकर समुदाय को भारत में "नीची" जाति माना गया है। इन लोगों को सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में किसी सम्मान के लायक

भारतीय हथकरघे पर कार्ल मार्क्स

हज़ारों सूत कातने वालों और बुनकरों को पैदा करने वाले हथकरघा और चरखा उस समाज के ढाँचे की धुरियाँ थे। प्राचीन काल से यूरोप को भारतीय श्रमिकों की उत्कृष्ट बुनावटें मिलीं, जिसके बदले उसने भारत को अपनी कीमती धातुएँ भेजीं...। यह ब्रिटिश घुसपैठिया ही था जिसने भारतीय हथकरघे को तोड़ डाला और चरखे को नष्ट कर दिया। इंग्लैण्ड ने शुरुआत भारतीय सूती कपड़े को यूरोपीय बाज़ार से बाहर करके की; इसके बाद उसने हिन्दोस्तान में बटा हुआ रेशमी तागा चलाया, और अन्त में कपास के जन्मदाता देश को अपने सूती कपड़ों से पाट दिया। 1818 से 1836 के मध्य ग्रेट ब्रिटेन से भारत को होने वाले बटे हुए रेशमी तागे का निर्यात 1 से 5,200 गुना बढ़ गया।



1824 में ब्रिटिश मलमल का भारत को निर्यात महज़ 1,000,000 गज़ था, जबकि 1837 में यह बढ़कर 64,000,000 गज़ से भी ज़्यादा हो गया...।

न्यूयॉर्क हेराल्ड ट्रिब्यून, 10 जून 1853



क्या आप जानते हैं?

साड़ी जैसे वस्त्रों के किनारों पर पक्षी, मन्दिर के स्तम्भ, फूल और अन्य नमूने बुनने के लिए बुनकर "कार्डों" (जिन्हें टैब्लेट्स भी कहा जाता है) का उपयोग करते हैं। इस तरीके को कार्ड-बुनाई कहा जाता है। लगभग छह वर्ग से.मी. के ये कार्ड पतले, मज़बूत गत्ते या पतली लकड़ी के बने होते हैं। इन कार्डों के हर कोने में मुलायम गोल छेद किए जाते हैं ताकि सूत न उलझे। छेद किए गए कार्डों में से पिरोए गए ताने वांछित नमूने बनाते हैं। कार्ड-बुनाई की यही तरकीब कम्प्यूटर द्वारा होने वाली छपाई में भी प्रयोग की जाती है। टेलीविज़न का पर्दा भी ताने-बाने की इसी प्रक्रिया की नकल करता है – पर्दे पर आने वाली हर छवि लाखों "तानों-बानों" से मिलकर बनती है।

नहीं माना गया। उन्हें भी किसानों, कुम्हारों और चर्मकारों की तरह किताबें पढ़ने और लिखने नहीं दिया गया, हालाँकि वे विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में पथ-प्रवर्तक थे। उत्तर भारत में हज़ारों बुनकरों द्वारा इस्लाम अपनाने के कारणों में से एक कारण यह भी था।

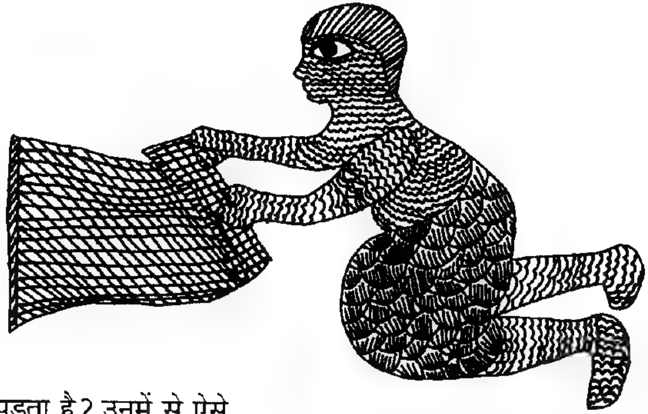
आज भी बुनकर पिछड़े हुए हैं। कई राज्यों में बुनकर आत्महत्याएँ कर रहें हैं क्योंकि वे उस कर्ज़ को चुकाने में असमर्थ हैं जो उन्हें मजबूरी में लेना पड़ता है। वैश्वीकरण के इस दौर में खुद को आधुनिक बनाने और अपने अस्तित्व को बचाने के लिए यह ज़रूरी है कि ऐसे समुदाय को बेहतरीन शिक्षा और अवसर सुलभ हों। विज्ञान और तकनीक के साथ ऐतिहासिक रूप से जुड़े होने के कारण बुनकरों में यह काबिलियत है कि वे इंजीनियर, टेक्नोक्रेट, चिकित्सक, डिज़ाइनर, सॉफ्टवेयर विशेषज्ञ और परमाणु वैज्ञानिकों के तौर पर ऊँचाइयाँ छू सकें। 



जानिए और करिए!

तेलुगु में हाथ से चलने वाले चरखे को *कड्डुरु* और लकड़ी के करघे को *मग्गम* कहा जाता है। आपकी मातृभाषा या स्थानीय भाषा में इनको क्या कहा जाता है? पता करिए।

देखें कि कपड़ों में ज़री का समावेश करने के लिए सोने, चाँदी और ताम्बे जैसी धातुओं का इस्तेमाल कैसे किया जाता है। इस प्रक्रिया में निहित विज्ञान पर एक लघु निबन्ध लिखें।



अपने कस्बे/शहर के पास स्थित किसी प्रसिद्ध हथकरघा केन्द्र का भ्रमण करें। विद्यालय के अपने मित्रों का एक समूह बनाकर बुनकरों के किसी परिवार से मिलने का प्रयास करें। किसी शिक्षक या फिर माता-पिता में से किसी को अपने साथ ले जाएँ। पता करें कि बुनकर कैसे काम करते हैं; स्त्री और पुरुष श्रम को कैसे बाँटते हैं; कैसे कपास और रेशम को सुन्दर कपड़ों में बदल दिया जाता है। बुनकरों को किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है? उनमें से ऐसे कितने हैं जिनकी पहुँच आधुनिक स्कूलों या कॉलेजों तक है? आप जो देखें उस पर एक निबन्ध लिखें।

इसी तरह अपने समीप स्थित किसी आधुनिक बुनाई कारखाने का भी सामूहिक भ्रमण करें। पता करें कि वहाँ हथकरघा बुनकरों की मूल बुनाई तकनीकों का किस तरह इस्तेमाल किया गया है। उस कारखाने का मालिक कौन है? सामान्यतः कारखानों का स्वामित्व और नियंत्रण किसके पास होता है? क्या बुनकर समुदाय के लोग कभी कपड़ा बनाने वाले कारखानों के मालिक बन पाते हैं? क्यों नहीं? इन कारखानों में कौन काम करता है? क्या केवल बुनकर समुदाय के लोग वहाँ काम करते हैं? यदि पारम्परिक बुनकर ऐसे कारखाने में काम करते हैं तो उनकी भूमिका क्या होती है?



७ धोबी

जिन्होंने पहला रासायनिक साबुन खोजा, कपड़े साफ किए,
और हमें बीमारियों से बचाया



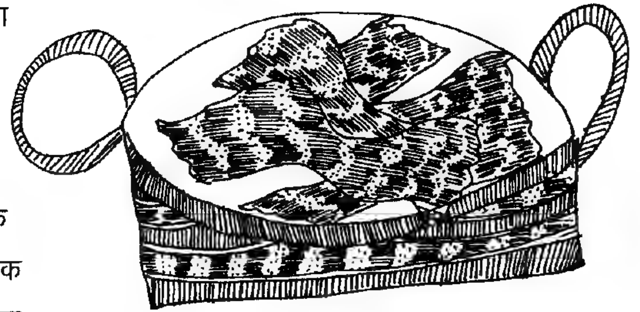
बुनाई का चलन शुरू होने के बाद जब लोग रेशों (सन, जूट, कपास) से बने कपड़े पहनने लगे, तब उन कपड़ों को साफ करना भी ज़रूरी हो गया। केवल अपने शरीर की सफाई करना ही काफी नहीं था; जो कपड़े लोग पहनते थे उनकी सफाई भी ज़रूरी थी। प्रारम्भ में कपड़ों को पत्थर पर कूटकर या खुरदरी रेत से रगड़कर और मैल को स्थानीय नालों में धोकर साफ किया जाता था। कपड़ा-निर्माण के आविष्कार के प्रारम्भिक दिनों में वस्त्रों से दाग-धब्बे हटाने का कोई तरीका नहीं था। कपड़े धोने के वैज्ञानिक तरीके की खोज होने के पहले अधिकांश लोग तब तक कपड़े पहने रहते थे जब तक वे फट नहीं जाते थे। निश्चित ही यह स्वास्थ्यकर नहीं था और इससे त्वचा में घाव और खुजली हो जाया करती थी, विशेषकर शुष्क उष्णकटिबन्धी और आर्द्र जलवायु वाली परिस्थितियों में।

भारत में इतिहास के किसी बिन्दु पर कपड़ों की धुलाई से सम्बद्ध लोगों ने एक विशेष प्रकार की खारी मिट्टी खोज निकाली जिसमें कपड़े को नुकसान पहुँचाए बिना दाग और मैल हटाने का गुण था। आम तौर पर इसे "मिट्टी का साबुन" कहा जाता है। तेलुगु में इसे *चौडुमट्टि* और तमिल में *उवरमण* कहा जाता है। भारतीय उपमहाद्वीप में कपड़े धोने वाली जातियों को "धोबी" कहा जाता है। तेलुगु में उन्हें "चकली" और तमिल में "वण्णान" कहा जाता है। भारत के सभी धोबी और निर्जल-धुलाई करने वाले लोग मिट्टी के साबुन से परिचित हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में मिट्टी के इस साबुन की खोज और उपयोग शुरू होने के सही समय का पता नहीं चल पाया है। पर चूँकि सिन्धु घाटी युग में 2500 ई.पू. तक कपड़े पहनना आम हो गया था, अतः हम यह बेखटके मान सकते हैं कि मिट्टी के साबुन की खोज 2000 ई.पू. तक तो हो ही चुकी होगी। इस तरह धोबियों का यह मिट्टी का साबुन भारत में खोजा गया धुलाई का पहला साबुन था।

मिट्टी के साबुन के रासायनिक गुणधर्म

जिसे भारत में मिट्टी के साबुन (चौडुमट्टि, उवरमण) के नाम से जाना जाता है, उसी को यूरोपीय लोग "फुलर की मिट्टी" कहते हैं। यह सोडे का अपरिष्कृत कार्बोनेट है। तमिलनाडु के धोबियों के अनुसार उवरमण एक फीके सफेद रंग की चिकनी मिट्टी होती है जिसमें सोडे के कार्बोनेट का अनुपात बहुत होता है। स्थानीय





परिस्थितियों के अनुसार इस मिट्टी का रंग भूरा, हरा, जैतूनी या नीला भी हो सकता है। आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में चकलियों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली चौडुमट्टि कुछ लाल से भूरे रंग की होती है। इसमें एक बहुत तेज़, मटमैला स्वाद होता है। रासायनिक तौर पर यह मुख्यतः एल्युमिनियम, सिलिका, लौह ऑक्साइड, चूना, मैग्नेशियम और पानी के बदलते अनुपातों से बनती है। इस अवसादी मिट्टी के जमाव कुछ खास क्षेत्रों में वर्षा ऋतु को छोड़कर साल भर स्वाभाविक रूप से पाए जाते हैं।

कुछ इतिहासकारों के अनुसार साइप्रस में 5000 ई.पू. के लगभग ऊनी कपड़ों को फुलर की मिट्टी से धोने का चलन था। लगभग 79 ई. की साबुन बनाने वाली एक इकाई के अवशेष पॉम्पेई (आज का इटली) के खण्डहरों में मिले थे। अँग्रेज़ी शब्द "फुलर" (फ्रांसीसी में *फुलाँ* या इतालवी में *फुलोन*) लैटिन शब्द *फुलो* से निकला है जो उस व्यक्ति के लिए इस्तेमाल होता है जिसका काम था कपड़ों पर से चिकनाई छुड़ाना और उन्हें मोटा करना। यूरोप में फुलर वैसे ही थे जैसे हमारे धोबी और निर्जल-धुलाई करने वाले। वे फुलर की मिट्टी के चूरे को वस्त्रों में माड़ते थे ताकि दाग-धब्बों और शरीर पर लगने वाले तेलों को सोखा जा सके। जब फुलर की मिट्टी झड़ा दी जाती तो वस्त्र "परिष्कृत" (रोंएदार हो जाना) होकर (फूलकर) साफ हो जाता था। इस प्रक्रिया को "परिष्करण" ("फुलिंग") कहा जाता है। ब्रिटेन में फुलर की मिट्टी केवल वस्त्रों के परिष्करण के लिए ही नहीं, बल्कि औषधियों और साज-सज्जा के सामानों में भी इस्तेमाल होती थी।

तेलुगु में कपड़ों पर पहले चौडुमट्टि (फुलर की मिट्टी) का इस्तेमाल करने और फिर उन्हें मिट्टी के साबुन से युक्त पानी को उबालने से निकली भाप में रखने की इस प्रक्रिया को *भट्टि* कहते हैं। तमिल में इस प्रक्रिया को *वेल्लावि* कहते हैं। (*आवि* का अर्थ है "भाप" और *वेल्लई* का मतलब है "सफेद बनाना"।) मिट्टी के साबुन और भाप का प्रयोग न केवल दाग-धब्बे हटा देता था बल्कि कीटाणुओं को भी मार देता था।

हालाँकि कपड़े धोने की मशीनें और आधुनिक डिटर्जेंट टिकिया और पाउडर शहरी भारत में आम हैं, ग्रामीण भारत के अधिकांश हिस्सों में भाप और मिट्टी के साबुन की सहायता से कपड़े साफ करने की प्रक्रिया आज भी जारी है। गाँवों में धोबी सभी समुदायों और जातियों के गन्दे कपड़े धोते हैं। धोबियों ने सदियों से एक ऐसा काम करके जिसमें धैर्य और विनम्रता की ज़रूरत होती है, बाकी आबादी को बीमारियों से बचाया है।



आम तौर पर धोबी बहते हुए पानी या पानी के हौजों में कपड़े धोते हैं। ऐसे स्थान "धोबी घाट" कहलाते हैं। धोबी हर घर से सुबह कपड़े इकट्ठा करके उन्हें घाट पर ले जाते हैं। घाट पर धोने और सुखाने से पहले वे कपड़ों को मिट्टी के साबुन सहित गलाते हैं और फिर भाप में रखते हैं। (आजकल गाँवों में भी इस पारम्परिक मिट्टी के साबुन में कपड़े धोने का सोडा और डिटर्जेंट मिला दिए जाते हैं।) शाम को धोबी कपड़ों को उनके सही घरों में पहुँचा देते हैं। वे अपनी पैनी याद्दाश्त के लिए जाने जाते हैं।

सामाजिक दर्जा

यह विडम्बना ही है कि जिन लोगों ने कपड़े साफ करने के विज्ञान की शुरुआत की, उन पर ही बाद में "अपवित्र जाति" का ठप्पा लगा दिया गया। भारत में मिट्टी के साबुन के रासायनिक गुणधर्मों की खोज करने वाले लोगों को शूद्र कहा गया और उन्हें जाति व्यवस्था में नीचा स्थान दिया गया। वैज्ञानिक सोच वाली अन्य उत्पादक जातियों की तरह, जिन्हें हमने पीछे देखा है, धोबियों को भी औपचारिक शिक्षा से वंचित रखा गया। उन्हें धार्मिक क्षेत्र में भी समानता नहीं दी गई। आज धोबियों को कई राज्यों में "पिछड़ा वर्ग" या "अन्य पिछड़ा वर्ग" का दर्जा मिला हुआ है। कुछ राज्यों में उन्हें "अनुसूचित जाति" भी माना गया है। गधों के साथ उनके सम्बन्ध के कारण भी धोबियों का मज़ाक बनाया जाता रहा है। धोबियों द्वारा इस्तेमाल किया जाने वाला लद्दू जानवर गधा या खच्चर होता है। गधा कपड़ों के भारी बोझ को मुख्य गाँव से कपड़े धोने के स्थान (घाट) तक ले जाने के लिए वाहन का काम करता है।



क्या आप जानते हैं?

अपनी साँस थाम लें: पुरानी पेशाब पहला डिटर्जेंट था जो इत्तेफाकन शायद किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा खोजा गया था जिसने यह देखा कि शिशु द्वारा गीला किया गया बिस्तर कुछ दिन बाद धोने से ज़्यादा सफेद हो जाता है, खासकर पेशाब से गीले हुए हिस्से में। प्राचीन रोम में कपड़े के टुकड़े पहले पुरानी पेशाब (जिसमें अमोनिया की प्रचुर मात्रा होती है) या अन्य क्षारीय घोलों में भिगोए जाते थे। फिर उन्हें फुलर की मिट्टी से भरे किसी विशाल तसले या कुण्ड में डालकर पैरों द्वारा ज़ोर से कुचला जाता था। दरअसल, रोम में धोबी सड़क के नुक्कड़ों पर रखे गए मिट्टी के विशाल बरतनों में पेशाब इकट्ठा करते थे। (वहाँ से गुज़रने वाले लोग इन बरतनों को भरकर धोबियों को उपकृत करते थे)। कूटे जाने के बाद कपड़ों को पानी में खूब धोकर साफ किया जाता था।

जो लोग अज्ञानतावश धोबियों की निन्दा करते हैं उन्हें धुलाई के विज्ञान की खोज करने वाले इस समुदाय से सीख लेने की कोशिश करना चाहिए। जहाँ अधिकांश परिवारों में केवल महिलाएँ कपड़े धोती हैं और अन्य घरेलू सफाई गतिविधियों का भार उठाती हैं, वहीं धोबियों में महिलाएँ और पुरुष दोनों धुलाई का काम करते हैं। जिन परिवारों में कपड़े धोने की मशीनें होती हैं उनमें भी आम तौर पर महिलाएँ ही इन मशीनों को चलाती हैं। घरेलू मज़दूरी में लगे व्यक्तियों में भी महिलाओं की संख्या ही ज़्यादा है। सभी जातियों और समुदायों के पुरुषों और लड़कों को धोबी बिरादरी के पुरुषों के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए जो अपनी स्त्रियों के साथ मिलकर कपड़े धोते हैं। कोई भी अच्छा समाज महिला-पुरुष और लड़के-लड़की के बीच श्रम को लेकर भेदभाव नहीं करता। 

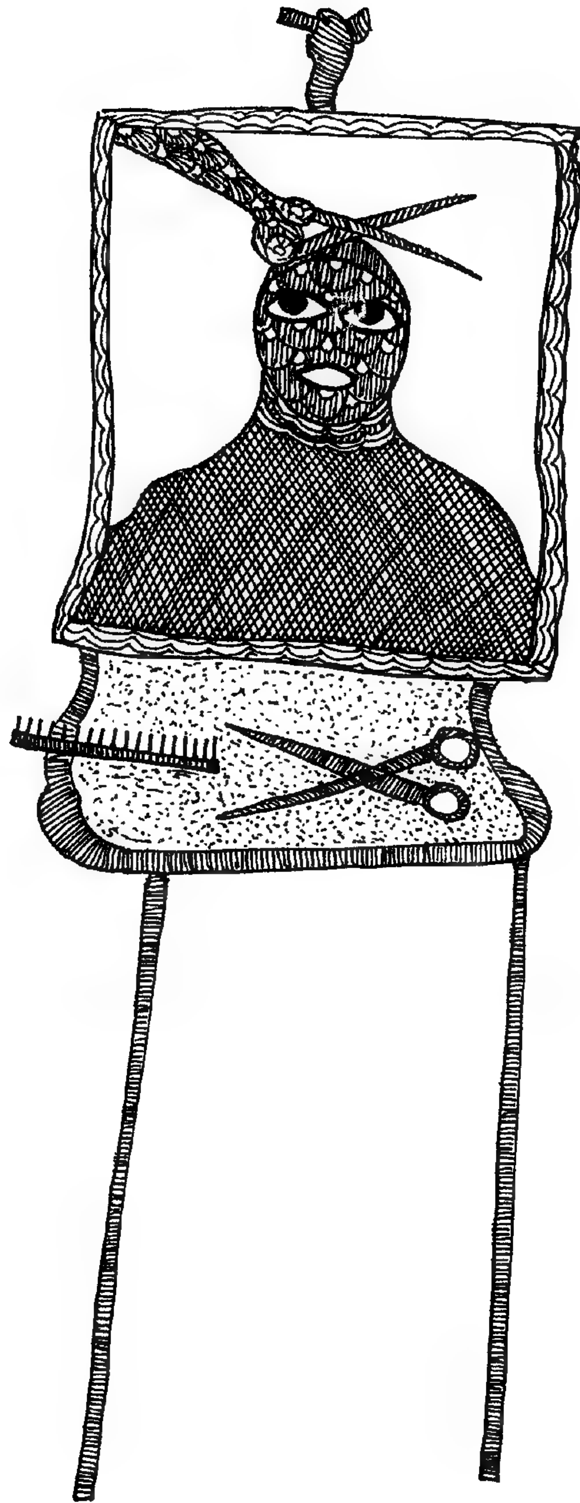


जानिए और करिए!

आपके कपड़े कैसे धुलते हैं? उन्हें धोने के लिए क्या तरीका इस्तेमाल किया जाता है? यदि आपके पास कपड़े धोने की मशीन है तो उसे कौन चलाता है? अपने कपड़े खुद धोना आसान काम है। इसकी आदत डालने की कोशिश करें।

साबुन कैसे काम करता है

साबुन में सोडियम या पोटेशियम के चर्बी वाले अम्लों से बने लवण होते हैं जो **साबुनीकरण** कही जाने वाली रासायनिक अभिक्रिया में वसाओं के जल-अपघटन से निर्मित होते हैं। पानी के साथ उपयोग करने पर साबुन पृष्ठ-तनाव को कम करके त्वचा, कपड़ों आदि से मैल और तेल को अपनी ओर आकर्षित करता है। कैसे? साबुन एक पृष्ठ-सक्रियक की तरह काम करता है। यह पानी को तंग छोटी बूँदों की तरह बने रहने की बजाय उसे कपड़ों में अवशोषित होने में मदद करता है। **साबुन के हर अणु में हाइड्रोकार्बनों की एक लम्बी शृंखला होती है** जिसे कभी-कभी उसकी "पूँछ" भी कहा जाता है (जो पानी को विकर्षित करती है), और जिसका एक कार्बोज़ाइलेट "सिर" होता है (जो पानी को आकर्षित करता है)। पानी में सोडियम और पोटेशियम के आयन ऋण आवेश वाले "सिर" को छोड़कर मुक्त तैरते हैं। पानी के साथ मिलाने पर साबुन के अणु पानी से बाहर निकलने की कोशिश में अपनी पूँछों को पानी की सतह से ऊपर की ओर धकेलते हैं। पानी में से झाँकती इन पूँछों के कारण पानी और फैल जाता है और इसके सम्पर्क में आने वाली सतह को पूरी तरह से "गीला" कर देता है। जहाँ तेल (जो धूल को आकर्षित करता है) स्वभावतः पानी के साथ नहीं मिल पाता, वहीं **साबुन तेल/मैल को इस तरह से अलग अटकाए रख सकता है कि उसे हटाया जा सके**। साबुन अपनी पूँछ के सहारे खुद को मैल के साथ जोड़ लेता है, जबकि उसका सिर पानी की तरफ आकर्षित होता है और इस प्रकार यह अणु तब तक अलग लटका रहता है जब तक कि पानी मैल और साबुन दोनों को बहाकर उसे धो नहीं डालता। इसलिए भरपूर पानी से धुलाई ज़रूरी है।



४ नाई

हमारे पहले चिकित्सक, जिन्होंने बाल काटने के लिए और आधुनिक काल के पहले शल्यक्रिया के लिए उस्तरों का उपयोग किया



स्वास्थ्य के सबसे बुनियादी पहलू हैं - हम कैसा खाना खाते हैं और किस तरह अपने शरीर की देखभाल करते हैं। चूँकि भारत में अधिकांशतः उष्ण कटिबन्धी जलवायु है, अतः बुनियादी स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए और साफ-सुथरा दिखने के लिए नित्य स्नान करना आवश्यक है। इसके अलावा मानव शरीर के बाल और नाखून भी बढ़ते रहते हैं जिन्हें नियमित रूप से करीने से काटना ज़रूरी है। हमारे स्वास्थ्य के लिए यह भी आवश्यक है।

चिकित्सा विज्ञानों के इतिहास में बालों की कटाई का महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे सिर और शरीर के अन्य हिस्सों पर उगने वाले बालों को काटने के लिए कुशलता की, और धारदार उस्तरे तथा कैंची जैसे बारीक औज़ारों की ज़रूरत होती है। कई समाजों में नाइयों ने अपने काम के अलावा विश्व के पहले चिकित्सकों और शल्यकर्मियों की दोहरी भूमिका भी निभाई। पाषाण युग में नेआंडरथल मानवों ने अपने शरीर से बालों को खींचकर निकालना शुरू कर दिया। तटीय क्षेत्रों में सीपियों को चिमटी की तरह इस्तेमाल किया जाता था। त्वचा को मुलायम बनाने के लिए झाँवा पत्थरों का प्रयोग किया जाता था। धारदार चकमक पत्थरों का इस्तेमाल ईसवी युग के 30,000 साल पहले ही शुरू हो चुका था। ये तरीके निश्चित ही अपरिष्कृत और आदिम थे। बाल काटने की वैज्ञानिक प्रक्रिया तो नाइयों ने ही विकसित की।

अपरिष्कृत औज़ारों, जैसे झाँवा पत्थरों और सीपियों के बाद काँसे, ताम्बे और लोहे के उस्तरे विकसित हुए। गाँवों में आज भी नाइयों द्वारा मोड़कर रखा जा सकने वाला तेज़ धारदार उस्तरा इस्तेमाल किया जाता है। सैकड़ों सालों तक उस्तरे चाकू की शक्ल में ढाले जाते थे। नाई इन्हें सिल्ली या चमड़े की पट्टी की मदद से धारदार बनाते थे। (चमड़े की यह पट्टी उन चर्मकारों द्वारा बनाई जाती थी जिनसे हम अध्याय 3 में मिले थे।) इन औज़ारों को इस्तेमाल करने के लिए बहुत कुशलता और एकाग्रता की ज़रूरत होती थी। सदियाँ गुज़रने के साथ-साथ बाल काटने की इस कला और विज्ञान का कई गुना विकास हुआ है।

भारतीय उपमहाद्वीप में व्यवस्थित ढंग से बाल काटने का लम्बा इतिहास है। कुछ इतिहासकार मानते हैं कि हजामत बनाने वाले पहले लोग ई.पू. पाँचवीं सदी के मिस्र निवासी थे। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा भारत में काफी पहले विकसित हो गई थी। सिन्धु घाटी कालीन (3000 से 1700 ई.पू.) चूना



पत्थर से निर्मित "दाढ़ी वाले पुरुष" की प्रतिमा में जिस पुरुष का चित्रण है उसकी दाढ़ी अच्छी तरह से छँटी हुई है। यह दर्शाता है कि उस समय बाल काटने के लिए धारदार उपकरणों के उपयोग की कला निश्चित ही अस्तित्व में रही होगी। जब मिस्रवासी बाल साफ करने के लिए रोमनाशक क्रीमों और झाँवा पत्थरों का उपयोग कर रहे थे, वहीं ई.पू. सातवीं सदी आते-आते भारत में जैनों ने बारीक औज़ारों का प्रयोग करके सिर मूँडना और चेहरे की हजामत करना शुरू कर दिया था। ऐसा माना जाता है कि कुछ जैन लोग बालों की एक-एक लट को नोंचकर भी उखाड़ दिया करते थे।

बाद में गौतम बुद्ध (छठी शताब्दी ई.पू.) और उनके भिक्षु-संघ ने दाढ़ी और सिर मुँडवाए हुए रूप को अपनाया और प्रोत्साहित किया। बुद्ध के प्रमुख शिष्यों में से एक, उपालि, व्यवसाय और जाति से नाई थे। इससे पता चलता है कि तब तक नाइयों की एक अलग व्यावसायिक पहचान बन चुकी थी। वास्तव में उपालि बुद्ध की हजामत बनाने के लिए ही उनसे मिले थे। लगभग इसी समय भारत में साधु-सन्त और भिक्षुक सन्यासी लम्बे, उलझे हुए बाल रखते थे जिनमें खूब जुएँ और जटाएँ होती थीं। ये लोग नाइयों को गन्दा और "नीची" जाति वाला मानते थे और उनके द्वारा छुआ जाना इन लोगों को मंज़ूर नहीं था। गौतम बुद्ध ऐसे "साधु-सन्तों" के आलोचक थे और उन्होंने चेहरे की हजामत बनवाने को स्वच्छता और स्वास्थ्य के लक्षण के रूप में अपनाया। इसलिए बौद्ध संघ में सभी भिक्षुओं का चेहरा हजामत किया हुआ रहता था और कभी-कभी उनके सिर भी मुँडे रहते थे। पारम्परिक मूर्तियों और चित्रों में बुद्ध को सिर पर *उष्निशा* कहलाने वाली बालों की एक गाँठ के साथ चित्रित किया जाता है, पर उनका चेहरा हमेशा हजामत किया हुआ दर्शाया जाता है।

उपालि के समय से काफी पहले ही भारत के नाइयों ने बाल काटने और चेहरे के बाल साफ करने के काम में दक्षता हासिल कर ली थी। बुद्ध ने स्वयं भी उपालि से हजामत बनाना सीखा। नाई बौद्ध

धर्म संघ के महत्वपूर्ण सदस्य बने। यहाँ तक कि संघ में अनुशासन और सुव्यवस्था बनाए रखने का उत्तरदायित्व उपालि पर ही था। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने नाइयों की महत्ता को पहचाना।

पहले शल्यकर्मी

नाई भारत के सबसे पहले पेशेवर चिकित्सक और शल्यकर्मी भी थे। आधुनिक युग के पहले नाइयों के अलावा किसी भी अन्य जाति के लोग बीमारियों से पीड़ित लोगों को नहीं छूते थे। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अस्तित्व में आने तक नाई ही कई छोटी-मोटी शल्यक्रियाएँ करते थे। उस्तरा चलाने में अपनी विशेषज्ञता के कारण वे रणभूमि में लगी चोटों का उपचार करते थे। वास्तव में शल्य चिकित्सा और बाल काटने के व्यवसाय में सहज सम्बन्ध है। शरीर के उस हिस्से पर जहाँ शल्यचिकित्सा होना होती है, बालों की उपस्थिति के कारण संक्रमण हो सकता है। इसलिए शल्यक्रिया से पहले बालों को पूरी तरह साफ करना अनिवार्य होता है। यह चलन आज भी जारी है। अतः नाई भारतीय समाज के सबसे पहले चिकित्सक कहे जा सकते हैं। तमिलनाडु में आज भी नाई को *मरुत्तुवर* कहा जाता है जिसका अर्थ होता है – चिकित्सक। देश के कुछ भागों में तो नाई विवाह और मृत्यु से सम्बन्धित कर्मकाण्डों और रस्मों का संचालन भी करते हैं। कई तरह की महत्वपूर्ण सेवाओं का निष्पादन करने के बावजूद भारत में नाइयों को अन्य लोगों द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है। उन्हें सामाजिक और धार्मिक जीवन में अनादर झेलना पड़ा है। इतने कुशल लोगों के साथ इस तरह का व्यवहार नकारात्मक मानसिकता का परिणाम है।

एक लम्बे समय तक केवल पुरुष ही अपने बाल कटवा सकते थे। महिलाओं से लम्बी चोटियाँ रखने की अपेक्षा की जाती थी। सामाजिक अनुक्रम में ऊँची समझी जाने वाली जातियों में विधवा स्त्रियों को सिर मुँडाने के लिए मजबूर किया जाता था क्योंकि बालों को दम्भ का प्रतीक माना जाता था। पुरुष अच्छा दिखने के लिए अपने बाल छोटे रखते थे, और इसमें सहूलियत भी थी क्योंकि लम्बे बालों की देखरेख करने में बहुत समय और ऊर्जा लगती है। पर महिलाओं को यह विकल्प सुलभ नहीं था। महिलाओं को नाई का काम करने की इजाज़त भी नहीं थी। आधुनिक दुनिया में महिलाओं ने छोटे बाल रखने का महत्व समझ लिया है। आज कई महिलाएँ नियमित रूप से बाल कटवाती हैं। बल्कि कई महिलाएँ तो बाल काटने के व्यवसाय में प्रमुख भूमिका भी निभाने लगी हैं। कस्बों और शहरों में स्थित सैलून और पार्लर इस बात के गवाह हैं।





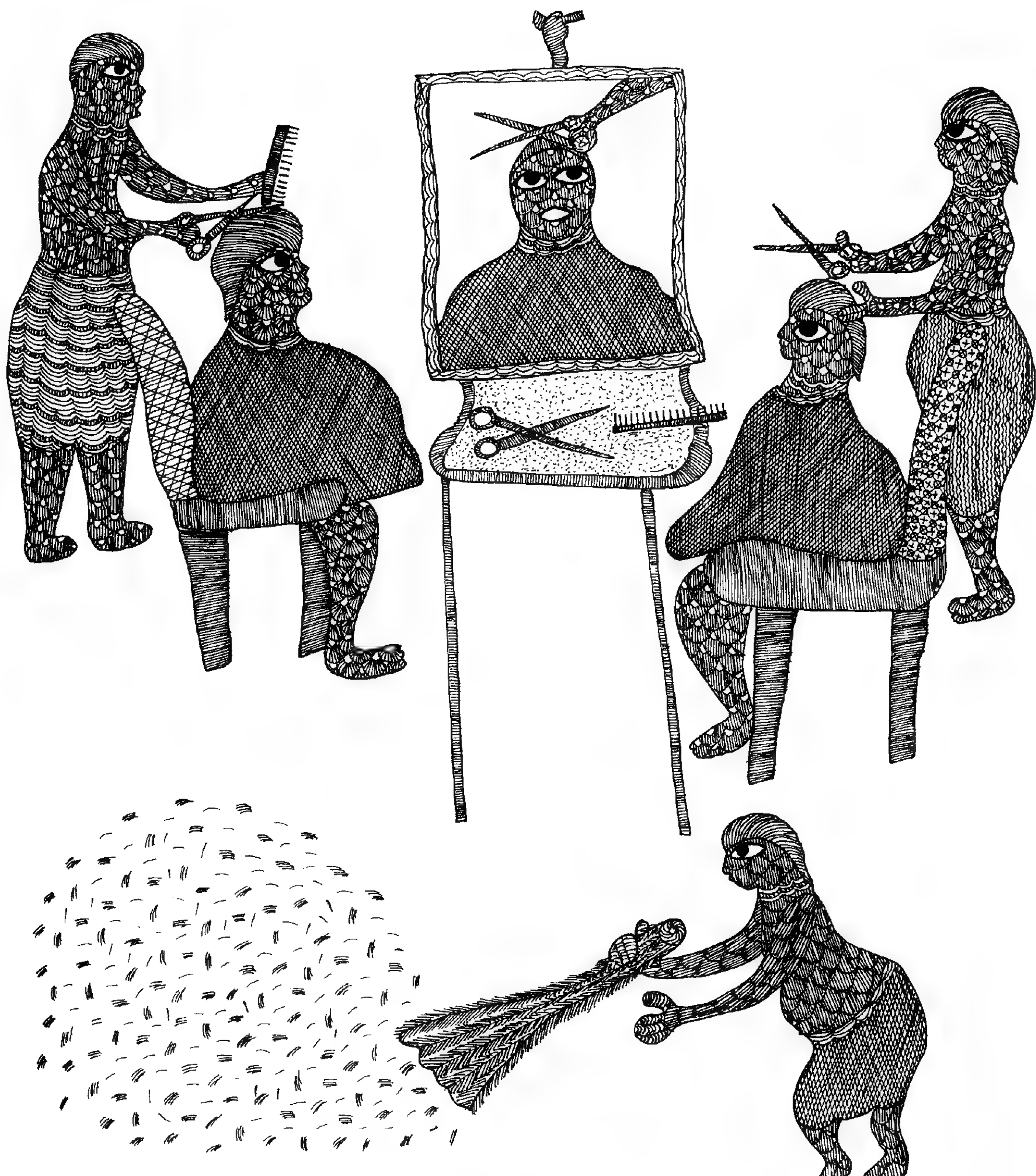
क्या आप जानते हैं?

"बार्बर" शब्द लैटिन के "बार्बा" से निकला है जिसका अर्थ है - दाढ़ी। जैसे-जैसे हजामत कराने का चलन दुनिया भर में फैला, दाढ़ी न बनवाने वाले समाजों के पुरुषों को "बार्बेरियन्स" (बर्बर) कहा जाने लगा जिसका अर्थ होता है "अनबार्बड" यानि "जिसकी दाढ़ी न बनी हो"।

प्रारम्भिक परिचारिकाएँ (नर्सें)

नाई समुदाय की महिलाओं ने गाँवों में प्रसव करवाने की ज़िम्मेदारी निभाई है। उत्तर भारत में वे "दाई" कहलाती हैं और आज की प्रशिक्षित परिचारिकाओं (नर्सों) का पारम्परिक रूप हैं। वे प्रसूति-विशेषज्ञ का काम करते हुए प्रसव में महिलाओं की मदद करती हैं। आज भी भारत में 50 प्रतिशत से ज़्यादा प्रसूतियाँ इन अति-कुशल ग्रामीण दाइयों द्वारा कराई जाती हैं। भारत के कई क्षेत्रों में दलित महिलाएँ भी प्रसव सम्बन्धी काम करती हैं। मध्य उत्तर प्रदेश के चमार इसका उदाहरण हैं।

दाइयाँ गर्भवती और स्तनपान कराने वाली माताओं की मालिश करके उनके शरीर को स्वस्थ रखने में भी मदद करती हैं। नाई समुदाय की महिलाओं द्वारा की जाने वाली सेवा-सुश्रुसा और उनके अनौपचारिक चिकित्सकीय कौशल, विशेषकर गर्भावस्था के दौरान उनके द्वारा की जाने वाली देखभाल की महत्ता को आज कई चिकित्सक भी स्वीकार करते हैं। नाई समुदाय की महिलाएँ कोख में उलटे शिशुओं (प्रसव के दौरान जिनके पैर पहले सामने आते हैं) को सीधा करने में कामयाब रही हैं। वे सामान्य प्रसूति कराने में महिलाओं की मदद करती हैं। गाने गाकर, गुनगुनाकर, जपकर और अपने साथ साँस लेने के व्यायाम करवाकर, वे जन्म देने वाली माताओं का दर्द बाँट लेती हैं। वे जन्म दे रही माताओं को शारीरिक सहारा देती हैं। वे प्रसव के दौरान सही शारीरिक मुद्रा के विषय में सुझाव भी देती हैं और सुरक्षित रूप से शिशु का प्रसव कराने में मदद करती हैं।



फिर क्यों नाई एक गरीब, अशिक्षित और पिछड़ा समुदाय बने रहे? कुछ धर्मग्रन्थों के अनुसार चूँकि नाई बाल काटते हैं अतः उन्हें सम्मान के अयोग्य माना जाना चाहिए। चूँकि नाइयों ने शल्यक्रियाएँ भी कीं, अतः स्वाभाविक तौर पर उन्हें बीमारियों से ग्रस्त मानव शरीरों के सम्पर्क में आना पड़ा। इसलिए उन्हें "प्रदूषित" माना गया। इस तरह के विचारों के परिणामस्वरूप इस समुदाय को सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में निन्दा झेलनी पड़ी। इस समुदाय के साथ, जिसका समाज के हर वर्ग और समूह की सेवा करने का इतिहास रहा है, सम्मानपूर्वक बर्ताव किया जाना चाहिए। यदि इस आधुनिक दुनिया में हम उन्हें चिकित्सक, शल्य-चिकित्सक, कलाकार, वकील या सूचना प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ नहीं बनने देते, तो नुकसान हमारा ही होगा। इसके साथ ही सभी को केशविन्यासक - जैसा कि नाइयों को आजकल जाना जाने लगा है - बनने की आकांक्षा करनी चाहिए। 

कुशल दाइयाँ

दाइयाँ, प्रसव का समय पास आने का पता एक रोचक तरीके से लगाती हैं। बिहार और तमिलनाडु की दाइयों के अनुसार माँ की नाभि पर तेल उड़ेला जाता है और उसके बहाव का अवलोकन किया जाता है। यदि तेल बिना रुके नीचे बहता है तो इसका अर्थ है कि बच्चे का जन्म जल्द ही होने वाला है। दाइयों द्वारा प्रसव के दौरान रखवाई जाने वाली शारीरिक मुद्रा में और आधुनिक अस्पतालों में प्रायः रखवाई जाने वाली "लीथोटॉमी" मुद्रा (सहारों पर पाँव ऊँचे रखकर लेटना) में आमूल अन्तर है। दाइयाँ घुटनों के बल बैठने की मुद्रा को आदर्श मानती हैं, जिसमें माँ के लिए पूरी शक्ति लगाना और बच्चे को जन्म देना आसान हो जाता है। दाइयों के अनुसार लीथोटॉमी की मुद्रा भ्रूण को माँ की छाती की ओर ले आती है जिससे संकुचन शुरू होने पर माँ के लिए बच्चे को जन्म देना कठिन हो जाता है। वास्तव में लीथोटॉमी मुद्रा को माँ की बजाय जन्म कराने वाले चिकित्सक की सुविधा के लिए अपनाया जाता है। जब माँ निढाल हो जाती है तो दाइयाँ उसे घुटनों को ऊपर उठाए हुए लेटी स्थिति में रखती हैं। इस मुद्रा में संकुचन शुरू होने पर माँ को अपनी जंघाओं को पकड़े रखना पड़ता है और उसके सिर व पीठ को उठाकर सहारा दिया जाता है। यहाँ भी मुख्य विचार यही है कि माँ द्वारा ताकत लगाने और बच्चे को जन्म देने की प्रक्रिया को आसान और प्रभावी बनाया जाए।

डॉ. समता पोट्टु, *द हिन्दु*, 8 अक्तूबर 2000

प्राचीन भारत में चिकित्सकों की स्थिति

हमारे प्रारम्भिक इतिहास में चिकित्सकों का दर्जा क्या था? छठी और पाँचवीं सदी ई.पू. में रचे गए धर्मशास्त्रों के विधिक साहित्य में चिकित्सकों को अपवित्र घोषित कर दिया गया था। ऐसा माना गया कि उनकी उपस्थिति मात्र से कोई स्थान दूषित हो जाता है; उनसे लिया गया या उनको दिया गया भोजन अपवित्र माना जाता था और उनको बलि चढ़ाने के लिए होने वाले अनुष्ठानों में आमंत्रित नहीं किया जाता था। सामाजिक दर्जे में उन्हें शिकारियों और अन्य "नीच व्यवसायों" में शामिल लोगों के समान ही माना जाता था। ये विचार "अपस्थन्ब धर्मसूत्र" (1.6.19), "गौतम धर्मसूत्र" (xvii.7) और "वशिष्ठ धर्मसूत्र" (xiv.110,19) में दर्ज किए गए थे। चूँकि रोगों का उपचार करना सम्मान के योग्य नहीं माना गया, इसलिए यह निर्देश दिया गया कि चिकित्सकीय पेशा "अम्बस्थ" जाति के लोगों तक ही सीमित रहना चाहिए, जैसा कि *मनुस्मृति* (x.4647) में कहा गया है। "कुलीन वर्गों में जन्मे" व्यक्तियों के लिए चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करना निषिद्ध था। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* (300 ई.पू. के आसपास रचित) में एक अध्याय मौर्य सम्राट द्वारा अपने कर्मचारियों को दिए जाने वाले वेतन से सम्बन्धित है। सबसे अधिक वेतन 64000 पण था, जो राजमाता, मुख्यमंत्री, सेनापति और सम्राट के पुरोहित को देय था। अगला वेतनमान, जो विशिष्ट सरकारी कर्मचारियों के लिए था, पहले स्तर का आधा अर्थात् 32000 पण रखा गया। इस घटते हुए पैमाने पर चिकित्सक का वेतनमान, पानी ढोने वालों और घोड़ों की देखभाल करने वालों के समकक्ष, 4 पण निर्धारित किया गया था। इस तरह चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति में भारी बाधाएँ खड़ी की गईं।

पी. एस. वारी, अध्यक्ष, प्लास्टिक सर्जरी विभाग, स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षण और अनुसन्धान संस्थान, चण्डीगढ़, के *इंडियन जर्नल ऑफ प्लास्टिक सर्जरी,* 2003, 36 413 में छपे लेख "सुश्रुत एण्ड अवर हैरिटेज से"

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नाइयों को अलग-अलग जातीय नामों से जाना जाता है। तेलुगु भाषी क्षेत्रों में उन्हें मंगाली कहा जाता है; तमिलनाडु में वे नाविदन कहलाते हैं। अधिकांश हिन्दी भाषी क्षेत्रों में उन्हें नाई, या फिर उस्ताद और हज्जाम भी कहा जाता है। नाइयों का संगीत से भी जुड़ाव देखा गया है। वे नादस्वरम् और शहनाई बजाने के लिए जाने जाते हैं। सारंगी के प्रसिद्ध वादक यू. श्रीनिवास और मृदंग के उस्ताद येल्ला वेंकटेश्वर राव मंगाली समुदाय के ही हैं।





१ जीवन का पर्याय, श्रम

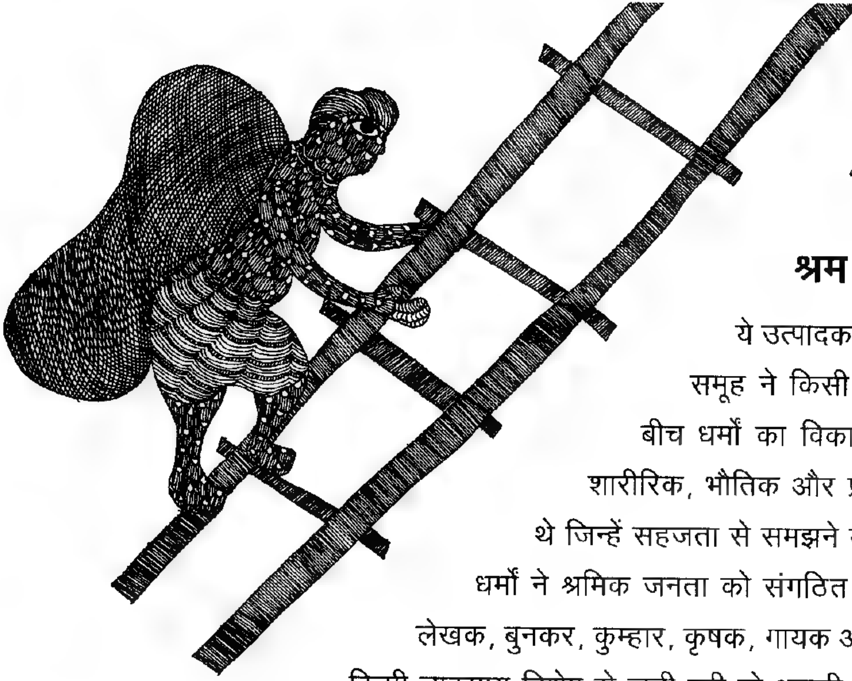
श्रम ने हज़ारों वर्षों के दौरान मनुष्य के
जीवन-स्तर को बेहतर बनाया है



हर इन्सान को जीने के लिए काम करना पड़ता है। काम करने की प्रक्रिया को श्रम कहते हैं। श्रम का बँटवारा इस तरह किया जाता है कि कुछ लोगों को कुछ खास बुनियादी काम करने पड़ते हैं जिनके बगैर अन्य लोग जीवित नहीं रह सकते। कुछ अन्य लोग बुनियादी श्रम प्रक्रियाओं को आगे बढ़ाने वाले दूसरे पूरक काम करते हैं।

प्राचीन काल में जानवरों का शिकार करना, फल इकट्ठा करना, कन्द-मूल खोदना और मछली पकड़ना जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक बुनियादी काम थे। इन गतिविधियों द्वारा प्रकृति से आहार उत्पन्न किया जाता था। इस आदिम अवस्था के बाद मनुष्यों ने अपना जीवन-स्तर सुधारने के लिए प्रकृति पर नियंत्रण करने की कोशिश की। भूमि की जुताई और आहार का व्यवस्थित उत्पादन इस दिशा में पहले कदम थे। भूमि की जुताई के बाद बुनियादी विज्ञान और तकनीक का विकास अनिवार्य हो गया ताकि पूर्ण रूप से खेती की जा सके। चर्मकारों, कुम्हारों, लुहारों, बढ़इयों आदि ने सबसे शुरुआती विज्ञान और तकनीक को जन्म दिया। इनके द्वारा विकसित किए गए औज़ार और तकनीकी उपकरण भूमि को खेती लायक बनाने के लिए और अनाज, सब्ज़ियों और फलों को लगातार नियंत्रित ढंग से पैदा करने के लिए अति आवश्यक थे।

कृषि के पूर्ण विकसित, श्रम-प्रधान गतिविधि बनने से पहले ही मनुष्यों ने मवेशियों को पालतू बना लिया था। कृषि के विकास से व्यवस्थित जीवन की शुरुआत हुई और इसके साथ ही बकरी, भेड़ तथा मुर्गी पालन का भी विकास हुआ। मवेशियों को पालना - पशुपालन विज्ञान – भी अत्यधिक मेहनत का काम था। इसके बाद कपड़े बुनने और उनको धोने व साफ करने का विज्ञान विकसित हुआ। खेती, पशुपालन तथा कुम्हारी व अन्य शिल्प कलाओं के विकास से पहले मनुष्य की उम्र बहुत कम हुआ करती थी। 5000 ई.पू. में महिलाओं की सम्भावित आयु केवल 30 वर्ष और पुरुषों की 35 वर्ष थी। विभिन्न श्रमिक प्रक्रियाओं के विकास के चलते नए विज्ञान और तकनीकी कामों की खोज हुई। मानव जीवन की उन्नति की इन



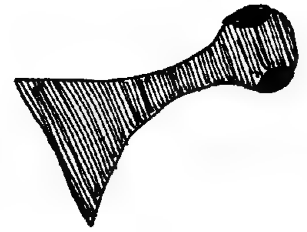
प्रक्रियाओं में दुनिया भर के समाजों की महिलाओं और पुरुषों ने योगदान दिया। भारत में ऐसे मेहनत के कामों में लगे समुदायों को "नीची" जातियाँ माना गया।

श्रम का व्यवसायों में विकास

ये उत्पादक काम विभिन्न समूहों में बाँटे गए थे। हर सामाजिक समूह ने किसी न किसी काम में विशेषज्ञता हासिल की। इस बीच धर्मों का विकास हुआ। प्रारम्भिक धर्म वास्तव में ऐसी विशेष शारीरिक, भौतिक और प्राकृतिक घटनाओं का समाधान पाने का उपाय थे जिन्हें सहजता से समझने या समझाने में मानव मस्तिष्क असमर्थ था। कुछ धर्मों ने श्रमिक जनता को संगठित किया। समाज में कुछ लोग पुरोहित बने, कुछ लेखक, बुनकर, कुम्हार, कृषक, गायक और चित्रकार बने। कई समाजों में यदि एक पीढ़ी किसी व्यवसाय विशेष से जुड़ी रही तो अगली पीढ़ी ने कोई अन्य व्यवसाय चुना। कोई महिला कुम्हारिन हो सकती थी पर उसका बेटा किसान या पुरोहित बन सकता था। अधिकांश समाजों में लोगों के बीच व्यवसाय बदलते रहते थे। चर्मकार कथाकार बने और कथाकार चर्मकार बने। कुम्हार पुरोहित बने और पुरोहितों ने बरतन बनाने का काम किया। नाई प्रशासक बने और प्रशासकों ने नाई का काम किया, इत्यादि।

यदि हम मध्यकाल (बारहवीं व तेरहवीं सदी) के आस-पास यूरोप में विकसित हुए पारिवारिक नामों और उपनामों को देखें तो पाएँगे कि कई लोगों के पारिवारिक नाम उस व्यवसाय पर आधारित हैं जिसके साथ वे या उनके पूर्वज किसी समय जुड़े रहे - पॉटर, बेकर, सॉयर, स्मिथ, फ्युलर, टेलर, बार्बर, कारपेन्टर, आर्चर, फिशर इत्यादि। तथापि यह ज़रूरी नहीं है कि इन उपनामों को लगाने वाले अधिकांश लोग आज उनके मूल व्यवसायों से जुड़े हों। पीढ़ियाँ बीतने के साथ-साथ इन समाजों में लोगों ने बार-बार अपने व्यवसाय बदले। परिवारों के इधर से उधर होने और पेशा बदलने से व्यावसायिक ज्ञान का आदान-प्रदान हुआ और वह सारे श्रमजीवी समुदायों में फैला। इसी वजह से दुनिया के अधिकांश धर्मों द्वारा सभी प्रकार

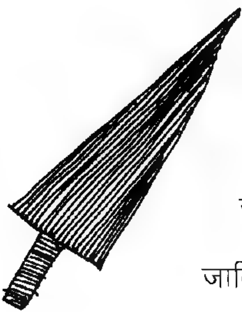
के कामों का आदर किया जाने लगा। "कर्म ही पूजा है" के सिद्धान्त ने कई धर्मों को बल प्रदान किया।



जाति की समस्या

परन्तु भारत में लगभग 3000 साल पहले कुछ गैर-श्रमिक समूहों ने जाति व्यवस्था को ईजाद किया। उस काल के पुरोहितों और प्रशासकों ने श्रम के तत्कालीन बँटवारों का सहारा लेकर घोषणा की कि जीवन में हर व्यक्ति का पूर्वनियत, पूर्वविधित स्थान होता है। मनु और कौटिल्य जैसे लेखकों ने ऐसे विशेषज्ञ समूहों को जातियों में विभाजित कर दिया। अन्य समाजों के विपरीत भारत के अधिकांश हिस्सों में जन्म से तय होता था कि कोई किस प्रकार का व्यवसाय या श्रम कर सकता था। खुद को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहने वाली जातियों में जन्मे लोगों के अलावा अन्य लोगों को सदियों तक विद्यालय जाने या किताबें पढ़ने-लिखने की अनुमति नहीं थी। इस काल के पुरोहितों और लेखकों ने उत्पादक श्रम से जुड़े हर काम के बारे में नकारात्मक विचार फैलाए। चर्मकार्य, सार्वजनिक जगहों की सफाई करना, बरतन बनाना, और यहाँ तक कि खेती को भी बुरा काम माना गया। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक इन कामों से जुड़े लोगों को "नीची" जातियाँ कहा गया। उन्हें शूद्र बताकर जाति व्यवस्था में सबसे नीचे और कभी-कभी तो चाण्डाल कहकर जाति व्यवस्था के बाहर रखा गया। अनुत्पादक जातियों, जैसे पुरोहितों, योद्धाओं, प्रशासकों और व्यापारियों ने कोई कठोर शारीरिक काम नहीं किया। न ही उन्होंने कोई भौतिक विज्ञान और तकनीक ईजाद की। इसके बावजूद उन्होंने श्रमिक और तकनीकी हुनर वाली जातियों की मेहनत के फल भोगे।





जाति व्यवस्था को बढ़ावा देने वालों ने एक दर्शन गढ़ा, जिसके अनुसार शिक्षित, बौद्धिक वर्गों द्वारा आहार उत्पादन, बरतन बनाने, चर्मकार्य, सफाई के कार्यों, बढ़ईगिरी, बुनकरी इत्यादि कामों में संलग्न होना उचित नहीं था। इस तरह की समझ ने श्रम की गरिमा को नष्ट कर दिया। कालान्तर में श्रम से जुड़ी हर गतिविधि को अशोभनीय मान लिए जाने के कारण समाज के शिक्षित वर्ग इस तथ्य को भूल ही गए कि श्रम जीवन का स्रोत है। श्रमिक जातियों को पढ़ने-लिखने की अनुमति न होने के कारण भारत में विज्ञान और अधिक विकसित अवस्था तक नहीं पहुँच पाया। जहाँ प्राचीन मिस्र के चित्रों और अभिलेख-पत्रों में बुनकरी,



कृषि, बढ़ईगिरी और लुहारी के कार्यों का सजीव और स्वाभाविक चित्रण है, वहीं भारतीय मन्दिरों में उत्पादन कार्यों में लगे लोगों की स्वाभाविक श्रमिक गतिविधियों का चित्रण कभी नहीं किया गया। जहाँ खाने-पीने, नाचने और सेक्स से सम्बन्धित गतिविधियों को मन्दिरों की मूर्तिकला में स्थान दिया गया, वहीं सामान्य श्रम कार्यों को कला के लिए उपयुक्त विषय नहीं माना गया।

सभ्यताओं की प्राणशक्ति

श्रम सभ्यताओं की प्राणशक्ति है। यदि श्रम को उपेक्षित किया जाता है तो हर समाज में आलस्य का कैंसर पैदा हो जाता है। भारत में श्रमिक समुदायों को अपमानित किया जाता रहा है और जो मेहनत का काम नहीं करते उन्हें ऊँचा दर्जा मिलता रहा है। श्रम के प्रति ऐसे नकारात्मक रवैए के कारण ही मज़दूर जातियों को अछूत माना गया। यदि किसी प्रकार का श्रम ज़्यादा कठिन होता था और उससे ज़्यादा बड़ी संख्या में लोग लाभान्वित होते थे, तो उस श्रम से जुड़ी जाति को और भी अधिक अछूत बना दिया जाता था। इसलिए हम देखते हैं कि वे सभी लोग जो नालियाँ और सड़कें साफ करते हैं, जो गाँवों में मृत पशुओं को ठिकाने लगाते हैं, जो पशुओं की देखरेख करते हैं, जो मनुष्यों की हजामत बनाते हैं और जो लोगों के कपड़े धोते हैं, वे न केवल अनादर झेलते हैं बल्कि बहुत कम मेहनताना भी पाते हैं। कभी-कभी तो उन्हें मज़दूरी दी ही नहीं जाती। ऐसी जाति व्यवस्था में महिलाओं का दर्जा पुरुषों से हीन होना स्वाभाविक था क्योंकि महिलाओं को अतिशय घरेलू श्रम करने के लिए मजबूर किया जाता रहा है। सामान्यतः आज भी हमारे समाज में पुरुष उन कामों में हाथ नहीं बँटाते जो महिलाओं को परम्परागत रूप से मजबूरी में करना पड़ते हैं।

इतना ही नहीं, शिक्षित जातियों और समुदायों ने श्रम करने वालों को मूर्ख कहकर उनकी निन्दा की और उन्हें इस लायक नहीं माना कि उनके साथ मनुष्यों जैसा बर्ताव किया जाए। न उन्हें शिक्षा हासिल करने लायक समझा गया, न ही लेखक, प्रबन्धक, इंजीनियर, चिकित्सक या लेखापाल बनने योग्य समझा गया। पुरोहित समुदाय ने कड़ी मेहनत करने वालों को "बुरे लोग" मानने के रवैए का समर्थन किया। इस प्रकार श्रमिक समुदायों को अपमानित करने वाले इस रिवाज़ को धार्मिक वैधता मिल गई।

ईश्वर किसी काम से घृणा नहीं करता। ये तो कुछ मनुष्य होते हैं जो ऐसा करते हैं। ईश्वर की अवधारणा का श्रम की निन्दा और आराम की प्रशंसा करने जैसी बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोगों की धारणा जो भी हो, मनुष्य के जीवित रहने के लिए श्रम अनिवार्य है।

प्रार्थना की तरह श्रम कोई निजी कार्य नहीं है। श्रम तो खुद को और दूसरों को नवजीवन देने की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति की मेहनत के फल अन्य कई ज़िन्दगियों का भी पोषण करते हैं। यदि कोई चमड़े पर मेहनत करता है तो वह चमड़ा किसी उपयोगी वस्तु, जैसे जैकेट, रस्सी, बेल्ट, जूते, बैग, ढोल, गुड़िया इत्यादि में तब्दील हो जाता है। यदि कोई मिट्‌टी पर काम करता है तो वह मिट्‌टी किसी बरतन में रूपान्तरित की जा सकती है। यदि कोई भूमि जोतकर उसमें बीज बोता है तो वह भूमि अनाज, सब्ज़ियाँ और फल पैदा करती है। जब किसी व्यक्ति का श्रम उपयोगी वस्तुएँ पैदा करता है तो कई लोग उनका उपभोग करते हैं। पुरोहित उनका उपभोग करता है, चिकित्सक उनका उपभोग करता है, और शिक्षक भी उनका उपभोग करता है। यदि कोई पुरोहित या शिक्षक यह कहता है कि इन वस्तुओं का उत्पादक मूर्ख है, तो यह न केवल धार्मिक पाप है बल्कि सामाजिक अपराध भी है।



बच्चों को यह ज़रूर सीखना चाहिए कि श्रम जीवन का स्रोत है। उन्हें न केवल श्रम का सम्मान करना चाहिए बल्कि बरतन बनाने, चर्मकार्य, खेती, पशु-पालन, बढ़ईगिरी, और बुनकरी के कामों में कुशलता हासिल करने की कोशिश भी करनी चाहिए। उन्हें यह ज़रूर जानना चाहिए कि कैसे इन श्रम कार्यों का विज्ञान और तकनीकी कामों के साथ जीवन्त सम्बन्ध है। 



10 श्रम और धर्म



किसी सकारात्मक धर्म में श्रम ही प्रार्थना का सबसे अच्छा रूप होता है



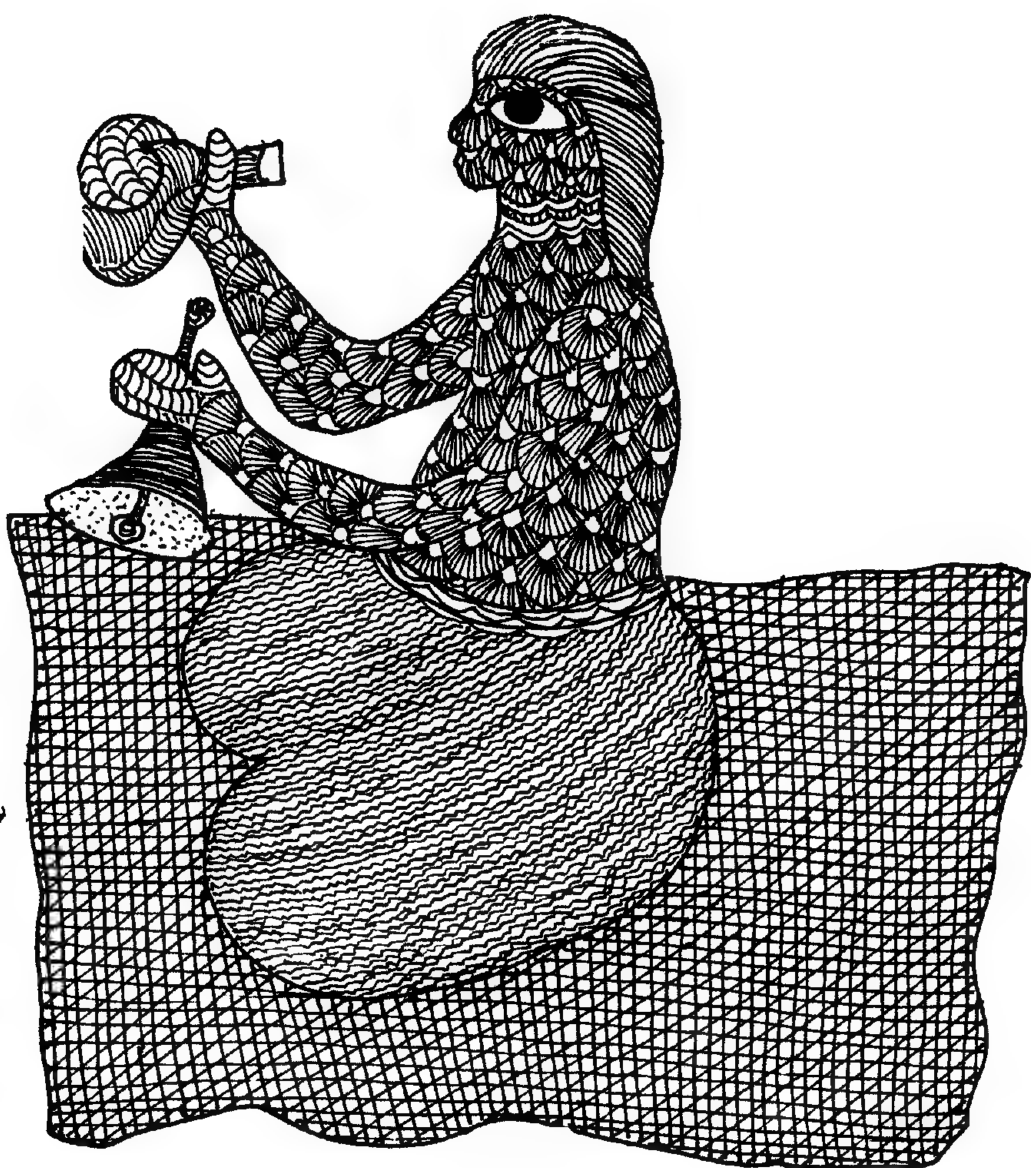
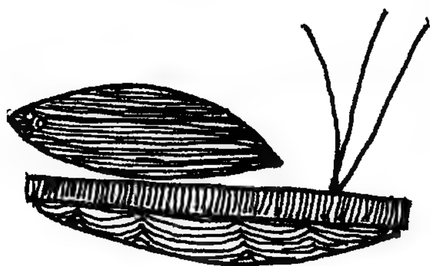
ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं? इस बात का जवाब सीधे "हाँ" या "नहीं" में नहीं दिया जा सकता। दुनिया में अधिकांश लोग यह मानते हैं कि ईश्वर है; पर कुछ ऐसा नहीं मानते। यह व्यक्तियों और समुदायों की मान्यताओं पर निर्भर करता है। इस विश्वास के आधार पर कि ईश्वर है, विभिन्न धर्म अस्तित्व में आए। जो लोग ईश्वर में विश्वास रखते हैं और अपने आप को किसी धर्म विशेष का हिस्सा मानते हैं, वे बिना मेहनत किए यह नहीं कह सकते कि "ईश्वर मुझे भोजन, आश्रय और शिक्षा देता है।" ईश्वर को मानने वाले और ईश्वर को न मानने वाले दोनों प्रकार के लोगों को भोजन के लिए और आराम से रहने के लिए श्रम तो करना ही पड़ेगा। इस प्रकार श्रम, ईश्वर और धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं।

क्या कोई धर्म यह कह सकता है कि ईश्वर जूता बनाने, बरतन बनाने, कपड़े धोने या भूमि जोतने के काम पसन्द नहीं करता? क्या कोई धर्म यह मान सकता है कि किसी खास प्रकार का उत्पादक श्रम "दूषित करने वाला" है, और ऐसे काम में शामिल न होना "पवित्रता" का द्योतक है? यदि कोई धर्म ऐसी धारणाओं को बढ़ावा देता है, तो उसे नकारात्मक धर्म माना जाना चाहिए। ईश्वर और धर्म की अवधारणाएँ जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक उत्पादक श्रम को मनुष्य के अस्तित्व की स्वाभाविक प्रक्रियाओं के साथ अन्तरंग रूप से जोड़ने की कोशिश करती हैं।

क्या ईश्वर हमारे शहरों, कस्बों और गाँवों की सड़कों को झाड़ू लगाकर स्वच्छ रखने वाले व्यक्ति को पसन्द नहीं करता? क्या मानव शरीर से निकलने वाला अपशिष्ट -- मल, मूत्र, कफ, मासिक स्राव – शरीर को अछूत बना देता है? कोई सकारात्मक धर्म इस तरह नहीं सोचता। यह महत्वपूर्ण है कि जब ऐसा अपशिष्ट शरीर से निकलता है तो शरीर की सफाई करना उसी तरह ज़रूरी हो जाता है, जिस तरह मैले कपड़े धोना ज़रूरी होता है। कोई सभ्य धर्म यह नहीं कह सकता कि वे लोग जो खुद को साफ रखते हैं और दूसरों की गन्दगी साफ करते हैं, पापी या अछूत हैं। बल्कि एक सकारात्मक धर्म में दूसरे लोगों के अपशिष्ट को साफ करने के काम में लगे मनुष्यों को ज़्यादा सम्मान मिलना चाहिए।

चिकित्सक = सफाई कर्मचारी

एक चिकित्सक मरीज़ का परीक्षण करने के लिए उसके शरीर में अपना हाथ या उँगलियाँ डालता है। ऐसा वह दस्ताने पहनकर करता है, जिसके दो कारण हैं; मरीज़ को किसी नए संक्रमण से बचाने के लिए, और

यह सुनिश्चित करने के लिए कि जो बीमारी मरीज़ को है वह स्वयं उसे न लग जाए। इसी प्रकार, सभी व्यवसायों में लगे लोगों को आधुनिक विज्ञान के फायदे मिलना चाहिए। कचरा ठिकाने लगाने वालों को सबसे अच्छे मशीनी उपकरण और बचाव का सामान दिया जाना चाहिए ताकि अपशिष्ट के साथ सम्पर्क को कम से कम किया जा सके। इतना ही महत्वपूर्ण यह भी है कि मनुष्य की बीमारियों का उपचार करने वाले चिकित्सकों का वेतन और बीमारियों को होने से रोकने वाले सफाई कर्मचारी का वेतन एक-सा होना चाहिए। दोनों के कामों का महत्व समान है। इसी तरह चमड़े का काम करने वालों को उतना ही पैसा मिलना चाहिए जितना कि बाँध बनाने वाले इंजीनियरों को मिलता है।

यदि कोई धर्म या समाज व्यवहार के द्वारा या फिर धर्मग्रन्थों में लिखे गए सिद्धान्तों के द्वारा भेदभाव पैदा करने वाली धारणाएँ विकसित करता है तो उसे मानव-विरोधी ही समझा जाना चाहिए। किसी भी ऐसी धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक संस्था की स्थापना अमानवीय है जो श्रम की गरिमा के विरुद्ध हो। जिस क्षण भी कोई पुरुष या महिला किसी भी समाज में किसी भी रूप में कोई अमानवीय व्यवहार देखता है, तो उसे ऐसे व्यवहार और उसके पीछे की मान्यताओं को अस्वीकार करना चाहिए।

ईश्वर और धर्म के नाम पर श्रम का तिरस्कार करना वे लोग सिखाते हैं जो दूसरों का शोषण करके अपना जीवन चलाते रहना चाहते हैं। आधुनिक समय में ईश्वर और धर्म की अवधारणाएँ किसी भी रूप में शोषण की अनुमति नहीं दे सकतीं। न ही ईश्वर और धर्म व्यक्तियों और समुदायों के प्रति असमानता और छुआछूत बरतने की सीख दे सकते हैं।

यदि श्रम की गरिमा किसी समाज और धर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त बन जाए, तो कोई व्यक्ति सुबह चर्मकार्य या बरतन साफ करने का काम कर सकता है और दोपहर में वह पुजारी, पुरोहित या मुल्ला का काम कर सकता है। चमड़े के उत्पाद का इस्तेमाल करना पर चर्मकार को अछूत मानना, मिट्टी के बरतनों का उपयोग करना पर कुम्हार को सम्मान के लायक न मानना, धोबी द्वारा धोए गए कपड़े पहनना पर धोबी को दूषित मानना, क्या यह उचित है?





11 श्रम और लिंग

स्त्रियाँ वे सभी काम कर सकती हैं जो पुरुष कर सकते हैं, और यह ज़रूरी है कि पुरुष सभी घरेलू कामों में हाथ बँटाना प्रारम्भ करें



जीने के लिए स्त्री-पुरुष सभी को काम करना ज़रूरी है। काम करने से ही मनुष्य अच्छी शारीरिक सेहत बनाए रखकर जीवित रह पाता है। सवाल यह है कि क्या महिलाएँ और पुरुष एक ही काम कर सकते हैं? अपने रोज़मर्रा के जीवन में, अपने घरों में और खेतों में भी हम देखते हैं कि महिलाओं से एक तरह के काम करवाए जाते हैं और पुरुषों से दूसरी तरह के।

श्रम को लेकर लिंग-भेद बच्चे के पालन-पोषण के समय से ही शुरू हो जाता है। माता-पिता के बीच सम्भोग के परिणामस्वरूप बच्चे का जन्म होता है। माँ बच्चे को जन्म देती है, और फिर स्तन के दूध या कभी-कभी बोतल के दूध द्वारा उसका पोषण करती है। जब बच्चा मल या मूत्र विसर्जित करता है तो वह उसका शरीर धुलाती है। आम तौर पर माँ ही बच्चे को नहला-धुलाकर तैयार करती है। रसोई में हम उसे खाना बनाते देखते हैं। फिर वही बरतन धोती है और घर की साफ-सफाई करती है। यदि परिवार कपड़े धोने के लिए कोई घरेलू सेवक नहीं रखता तो माँ ही अकेले सारा काम करती है। घर का झाड़ू-पोंछा या सफाई का कोई भी अन्य काम आम तौर पर परिवार की महिला सदस्यों द्वारा ही किया जाता है।

ऐसा नहीं होना चाहिए। बच्चे का स्तनपान के ज़रिए पोषण कराने के अलावा दूसरे सभी काम दोनों पालकों, महिला और पुरुष द्वारा समान रूप से बाँटे जा सकते हैं। पिछले कुछ दशकों में कई समाजों में पुरुषों और महिलाओं ने ऐसे बुनियादी घरेलू कामों को आपस में बाँटना शुरू कर दिया है। परन्तु अधिकांश मामलों में भारतीय पुरुष ऐसे किसी काम में हाथ नहीं बँटाते। क्यों?

भारतीय परिवारों में बचपन से ही घर के कामों को लड़कों और लड़कियों के बीच बाँट दिया जाता है। लड़कियों को रसोई में माँ की मदद करने के लिए कहा जाता है। सब्ज़ियाँ काटना, बरतन धोना, कपड़े धोना, घर का झाड़ू-पोंछा करना इत्यादि स्त्रियों के काम माने जाते हैं। लड़कों को केवल खेती के काम में परिवार की मदद करने और दुकानों से सामान खरीदकर लाने के लिए कहा जाता है। माताएँ स्वयं भी न तो लड़कों को घर की साफ-सफाई के काम सिखाना पसन्द करती हैं और न ही खाना बनाने के काम में उनकी मदद लेना पसन्द करती हैं। इसी तरह वे लड़कियों को खेती के काम पर भेजना पसन्द नहीं करतीं और न ही उन्हें साइकिल से पड़ोस की दुकान तक जाने के लिए कहती हैं। यदि कोई माँ अपने लड़के और लड़की को हर तरह के काम में प्रशिक्षित करना भी चाहे, तो हो सकता है कि पिता इसे नापसन्द करे।



समाज मानता है कि महिलाएँ और पुरुष प्राकृतिक रूप से अलग-अलग काम करने के लिए बने हैं। हर जाति, धर्म और वर्ग के परिवारों में इसी तरह की सोच होती है। इसके परिणामस्वरूप श्रम का लैंगिक आधार पर बँटवारा हो जाता है। यह सोचना गलत है कि यदि लड़के खाना बनाते हैं या साफ-सफाई के काम करते हैं तो उनका पुरुषत्व घट जाता है और वे "लड़कियों जैसे" हो जाते हैं। इसी प्रकार एक भ्रान्ति यह भी है कि यदि लड़कियाँ वे काम करती हैं जो परम्परागत रूप से केवल लड़कों के काम माने जाते हैं, तो उनके नारीत्व में कमी आ जाती है और वे "मर्दानी" हो जाती हैं। ये गलत और निराधार विचार हैं।

कई व्यवसायों में पुरुष और महिलाएँ बराबरी से काम करते हैं। कुछ मामलों में तो महिलाएँ पुरुषों से ज़्यादा काम करती हैं। गाँवों में ऐसी महिलाएँ होती हैं जो खेत जोतती हैं और ऐसे पुरुष होते हैं जो बीज बोते हैं। धोबी परिवारों में महिलाएँ और पुरुष दोनों ही अपने ग्राहकों के कपड़े धोते हैं। बुनकरों में भी महिलाएँ बराबरी से काम करती हैं। कई परिवारों में ऐसे पुरुष होते हैं जो खाना बनाते हैं और महिलाएँ घर से बाहर निकलकर काम करती हैं। पर उन शहरी परिवारों में जहाँ महिलाएँ अपने घरों से बाहर व्यावसायिकों के रूप में काम करती हैं, उन्हें अन्त में दोहरा काम करना पड़ जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जब बात परिवार के लिए खाना बनाने पर आती है तो पुरुष रसोई के कामों में पूरी तरह से भाग नहीं लेते। इस तरह का दोहरा काम करने के कारण महिलाओ की सेहत और उनकी ऊर्जा नष्ट हो जाती है।

श्रम का लैंगिक विभाजन बहुत हद तक पितृसत्ता – ऐसी स्थिति जहाँ परिवार या समाज में पुरुष सदस्य हावी रहते हैं – का परिणाम है। पितृसत्तात्मक समाज लड़कियों और महिलाओं को यह महसूस करने पर मजबूर करता है कि वे लड़कों और पुरुषों से कमतर हैं। इसमें पुरुषों की सोच ऐसी बन जाती है कि वे खुद को श्रेष्ठ समझते हैं। पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता का प्रश्न श्रम सम्बन्धी प्रश्न है। उदाहरण के लिए, एक आम तौर पर पूछा जाने वाला प्रश्न हैः क्या एक लड़की/महिला, एक लड़के/पुरुष द्वारा किया जा सकने वाला हर प्रकार का काम कर सकती है? इसका वैज्ञानिक उत्तर है "हाँ"। यदि लड़कियों को वही आहार दिया जाए जो लड़कों को दिया जाता

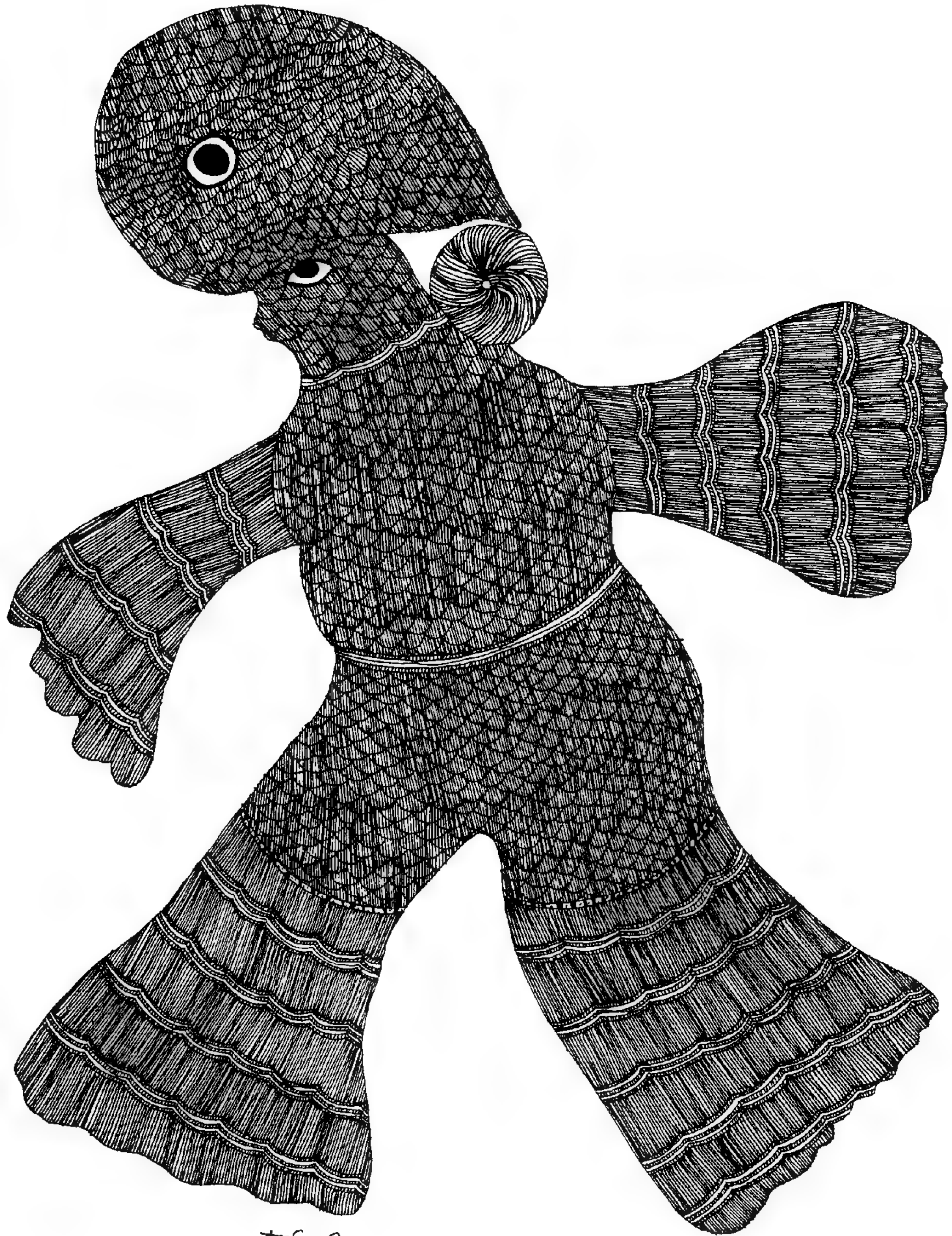
है, यदि लड़कियों को वही काम दिए जाएँ जो लड़कों को दिए जाते हैं, यदि उन्हें स्कूलों और कॉलेजों में लड़कों की तरह ही प्रशिक्षित किया जाए, यदि उन्हें हर गतिविधि के क्षेत्र में बराबरी से प्रशिक्षण दिया जाए, तो लड़कियाँ वे सभी काम कर सकती हैं जो लड़के कर सकते हैं। इसी प्रकार पुरुष भी महिलाओं द्वारा किया जाने वाला हर घरेलू काम कर सकते हैं, और उन्हें ऐसा करना ही चाहिए। 

पाषाणकालीन श्रम

अधिकांश इतिहास यह दावा करते हैं कि शिकार मनुष्य के विकास में एक प्रमुख गतिविधि थी जिसने मनुष्यों को ज़िन्दा रहने और पृथ्वी पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के काबिल बनाया। परम्परागत रूप से ऐसा माना जाता है कि पुरापाषाण काल से ही शिकार में पुरुषों की भूमिका ज़्यादा महत्वपूर्ण रही। पर केवल शिकार पर्याप्त भोजन नहीं दे सकता। पाषाणकालीन मनुष्य माह में केवल एक सप्ताह शिकार करते थे, वह भी सामूहिक रूप से महिलाओं के साथ मिलकर। बाकी के समय वे महिलाओं द्वारा इकट्ठे किए गए गिरीदार फल, सरस फल, विभिन्न प्रकार की शाकें और घास खाते थे, जो प्रायः कुल उपभोग किए गए भोजन का 80 प्रतिशत होता था। इससे ज़ाहिर होता है कि महिलाएँ कभी अपने भोजन के लिए पुरुषों द्वारा मांस घर लाए जाने पर निर्भर नहीं रही होंगी।

इधर, महिलाओं के शरीर में एक अतिमहत्वपूर्ण और पूरी तरह से अन्दरूनी विकास हुआः वानरों में होने वाले कामोन्माद (जब मादाएँ समय-समय पर कामोत्तेजित हो जाती हैं) का स्थान मासिक धर्म ने ले लिया। विशाल मादा वानर – चिंपांज़ी, गोरिल्ला और ओरांगुटान – बिरले ही कामोत्तेजित होते हैं और हर पाँच या छह सालों में एक बच्चा पैदा करते हैं। इससे ये प्रजातियाँ गम्भीर संकट में पड़ जाती हैं। कई स्तनपाइयों में मादाएँ स्त्रियों की तुलना में कम बार कामोत्तेजित होती हैं। इसका यह अर्थ भी हुआ कि ऐसी नस्लें अनुकूल वातावरण में ही जीवित रह सकती हैं। इसकी अपेक्षा हर वर्ष गर्भधारण करने के बारह मौकों के चलते स्त्रियों की प्रजनन क्षमता कहीं अधिक होती है। इसलिए मानव जाति बेहद प्रतिकूल परिवेशों में भी जीवित रह पाने में समर्थ रही।

खाद्य संग्रहण के अलावा मानव मस्तिष्क के विकास में बच्चों की देखभाल ने अधिक महत्वपूर्ण योगदान किया। और इसमें मानव जाति की मादा ने ज़्यादा अहम भूमिका निभाई।


दुर्गाबाई



कांचा आइलैयाः अन्य किताबों के अलावा *गॉड एज़ पॉलिटिकल फिलॉसफरः बुद्धाज़ चैलेंज टू ब्राह्मिनिज़्म* के लेखक हैं। वे उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक हैं।

दुर्गाबाई व्यामः भोपाल में रहने वाली एक कलाकार हैं। वे कहती हैं, "मेरे पास कोई प्रशिक्षण नहीं है, बस चित्र बनाने का जुनून है।"

भरत त्रिपाठीः भारतीय जनसंचार संस्थान, नई दिल्ली से पत्रकारिता में स्नातकोत्तर डिप्लोमा करने के बाद मुख्यधारा मीडिया में शामिल न होकर स्वतंत्र लेखन और अनुवाद कार्य कर रहे हैं।

आभार

- सी.के. जानु की आत्मकथा *मदर फॉरेस्ट: दि अनफिनिश्ड स्टोरी ऑफ सी.के. जानु* (भास्करन तथा सी.के. जानु) के लिए विमेन अनलिमिटेड का।
- दाइयों के चिकित्सकीय कौशल पर लेख के अंश के लिए *द हिन्दु* का।
- पी.एस. चारी के लेख के अंश के लिए *इंडियन जर्नल ऑफ प्लास्टिक सर्जरी* का।
- पेज 10, 13, 18 व 105 पर छपे दुर्गाबाई के चित्रों के लिए राजा मोहन्ती का। ये चित्र उनके निजी संग्रह से लिए गए हैं।
- पेज 31, 32, 34-36, 55, 70 व 73 पर छपे छायाचित्रों के लिए श्रीकान्त कोलारी का।

Author's acknowledgements

I wish to thank Gita Ramaswamy of Hyderabad Book Trust for reading the first draft of this manuscript. S.Anand of Navayana reframed the book to make it suitable for children and added a lot of new material. Durgabai Vyam's illustrations have enlivened this book and imbued it with immense value. That she accomplished this work in less than ten days is remarkable. I am grateful to her. Thanks are also due to Raja Mohanty of IIT Powai for introducing Anand to Durgabai.

Kancha Ilaiah
28 January 2007

एकलव्य : एक परिचय

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है। यह पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है। एकलव्य की गतिविधियाँ स्कूल में व स्कूल के बाहर दोनों क्षेत्रों में हैं।

एकलव्य का मुख्य उद्देश्य ऐसी शिक्षा का विकास करना है जो बच्चे से व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो; जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो। अपने काम के दौरान हमने पाया है कि स्कूली प्रयास तभी सार्थक हो सकते हैं जब बच्चों को स्कूली समय के बाद, स्कूल से बाहर और घर में भी रचनात्मक गतिविधियों के साधन उपलब्ध हों। इन साधनों का किताबें तथा पत्रिकाएँ एक अहम हिस्सा हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हमने अपने काम का विस्तार प्रकाशन के क्षेत्र में भी किया है। बच्चों की पत्रिका **चकमक** के अलावा **स्रोत** (विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स) तथा **शैक्षणिक संदर्भ** (शैक्षिक पत्रिका) हमारे नियमित प्रकाशन हैं। शिक्षा, जनविज्ञान, बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मुद्दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ, सामग्रियाँ आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की हैं।

वर्तमान में एकलव्य मध्यप्रदेश में भोपाल, होशंगाबाद, पिपरिया, हरदा, देवास, इन्दौर, उज्जैन, शाहपुर (बैतूल) व परासिया (छिन्दवाड़ा) में स्थित कार्यालयों के माध्यम से कार्यरत है।





"एक अतिआवश्यक किताब जिसे प्रत्येक भारतीय बच्चे को पढ़ना चाहिए।"
– सेमफी वी. ल्हालुंग्पा, चीफ ऑफ एजुकेशन, युनिसेफ इंडिया, *द वॉशिंगटन पोस्ट* में

"यह किताब उनके लिए बहुत उपयोगी है जो स्कूलों में सामाजिक विज्ञान पढ़ाते हैं।"
– *यंग वर्ल्ड, द हिन्दू*

"खूबसूरत किताब... पालकों और शिक्षकों के लिए बेहद ज़रूरी संसाधन।"
– *तहलका*

"यह किताब निश्चित रूप से बच्चों को अलग ढंग से सोचने का एक रास्ता बता सकती है।"
– *टाइम आउट*

इस किताब में कांचा आइलैया ने आदिवासियों, चर्मकारों, कुम्हारों, मूर्तिकारों, किसानों, बुनकरों, धोबियों और नाइयों के विज्ञान, कला व हुनर पर प्रकाश डाला है। किताब मानव जीवन को बेहतर बनाने में ऐसी जातियों और समुदायों के योगदान को दर्ज करती है जिन्हें "निम्न" और "पिछड़े" मानकर तिरस्कृत किया जाता है।

सन् 2006 में शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण के खिलाफ प्रदर्शन करते हुए विद्यार्थियों ने जूते पालिश किए, सड़कों पर झाड़ू लगाया और सब्ज़ियाँ बेचीं। श्रम के प्रति इस तरह की दुर्भावना क्यों? क्या ये विद्यार्थी असल में जूते बना सकते हैं? क्या वे ज़मीन जोत सकते हैं? क्या वे एक घड़ा बना सकते हैं?

दुर्गाबाई व्याम के अनूठे चित्रों से सजी यह किताब भारतीय बच्चों के बीच मानव श्रम की गरिमा को पुनःप्रतिष्ठित करने की पहली कोशिश है।

ISBN: 978-81-89976-47-7







मूल्य: 80.00 रुपए